RAJHIN16138/20/1/2012-TC
ISSN 2278 6392

शिक्षा की बुनियाद

हिंदी त्रैमासिक | वर्ष : 1 | अंक : 4 | 11 अप्रैल, 2013 | उदयपुर | ₹ 200(वार्षिक)

विद्या भवन सोसायटी

Azim Premji University

शिक्षा की बुनियाद

इस अंक में...

1 सवाल करो
राग तेलंग

3 पाठ्पुस्तकों के बोझ तले सिसकती...
महेश पुनेठा

7 इधर मैकाले उधर गांधी
सुनील

11 राष्ट्रीय बेसिक शिक्षा 1937–1944
मॉर्जरी सॉइक्स

21 जीवन के लिए जीवन के माध्यम से शिक्षा
देवी प्रसाद

28 समरहिल : एक खुशनुमा स्कूल
शंकर सिंह राठौर

35 मैकॉलेवाद बनाम फूले–गांधी–अंबेडकर...
अनिल सद्गोपाल

46 बच्चों की "फिरकी" के बहाने : बाल साहित्यकारों...
कालूराम शर्मा

आवरण छायाचित्र : अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, देहरादून के सौजन्य से।

परामर्श–प्रबंधन : हृदय कांत दीवान
एस. गिरिधर

संपादक : भाग चन्द्र कुमावत

संपादक मण्डल : गुरबचन सिंह
के.आर. शर्मा
कमलेश जोशी
गिरीश शर्मा
रजनी द्विवेदी

चित्रांकन : प्रशांत सोनी

कवर एवं ले–आउट : इसरार अहमद
मो. इकराम

टाइपिंग सहयोग : शाकिर अहमद

वितरण : निशांत कुमावत
✆ 09950912525

संपादकीय पता

विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र
विद्या भवन सोसायटी परिसर, फतेहपुरा, मोहन सिंह मेहता मार्ग
उदयपुर (राज.) 313 004
फोन : (0294) 2451497
E-mail : *vbsudr@yahoo.com*

सवाल करो

सवाल करो खड़े होकर
अगर चीजें तुम्हें समझ नहीं आतीं

अगर तुम्हारे पास
वे चीजें नहीं हैं जो दूसरों के पास हैं तो सवाल करो

सवाल करो
अगर तुम्हें शिक्षा सवाल करना नहीं सिखाती
अगर उत्तरों से और सवाल पैदा नहीं होते तो सवाल करो

सवाल करो
अगर तुम्हारे होने की महत्ता को स्वीकारा नहीं गया
अगर तुम अपने–आप के होने को
अब तक साबित नहीं कर पाए हो तो सवाल करो

सवाल करो
और जानो–समझो ऐसा क्यों है?

ऐसा कौन चाहता है कि सवाल ही पैदा न हों!

ऐसा होने से वाकई किसका बिगड़ता है और
किसका क्या बनता है?
इस बारे में सबसे सवाल करो

इस शोर भरे समय की चुप्पी तोड़ना चाहते हो तो
सवाल जरूर करो।

राग तेलंग : इलेक्ट्रॉनिक्स में एम.एससी. हैं। कविताएं लिखते रहते हैं। बी.एस.एन.एल. भोपाल (मध्यप्रदेश) में कार्यरत।

शिक्षा के बुनियादी मसलों पर गंभीर विमर्श

आप भी पढ़ें, दूसरों को भी पढ़ाएं

विद्या भवन सोसायटी और अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के संयुक्त प्रयास से दो शैक्षिक पत्रिकाओं– **'शिक्षा की बुनियाद'** और **'खोजें और जानें'** का त्रैमासिक रूप से प्रकाशन किया जा रहा है। इन पत्रिकाओं में स्कूली शिक्षा से जुड़े मुद्दों– पाठ्यक्रम, आकलन, शिक्षक शिक्षा, बुनियादी शिक्षा, बालकेन्द्रित व गतिविधि आधारित शिक्षा के साथ राष्ट्रीय पाठ्यचर्या प्रारूप 2005 के प्रकाश में भाषा, पर्यावरण अध्ययन, गणित व विज्ञान शिक्षण एवं सीखने सिखाने (टी.एल.एम) की सामग्री, शैक्षिक शोध व नवाचार आदि पर गंभीर विमर्श को प्रस्तुत किया जाता है। ये पत्रिकाएं शिक्षकों और शिक्षा कर्मियों के लिए बहुत उपयोगी हैं। हम चाहते हैं कि आप भी इन पत्रिकाओं के नियमित पाठक बनकर इस विमर्श में भागीदार बनें।

सदस्यता सहयोग राशि (डाक/कूरियर खर्च सहित)

शिक्षा की बुनियाद	व्यक्तिगत/संस्थागत	वार्षिक ₹ 200/400	द्वैवार्षिक ₹ 350/700	त्रैवार्षिक ₹ 500/1000
खोजें और जानें	व्यक्तिगत/संस्थागत	₹ 200/400	₹ 350/700	₹ 500/1000

पत्रिका की सहयोग राशि डी. डी./ चेक/एम.ओ. द्वारा **'विद्या भवन सोसायटी', उदयपुर (राज.)** के नाम से भेजी जा सकती है। यह राशि सीधे **'विद्या भवन सोसायटी'** के बैंक एकाउंट नं. 694301000027, ICICI बैंक ब्रांच विद्या भवन सोसायटी, फतेहपुरा, उदयपुर (ब्रांच कोड IFSC ICIC0006943) में भी जमा की जा सकती है।

सम्पर्क विद्या भवन सोसायटी, बिहार परियोजना कार्यालय, रूम न. 108, एस. आई. ई. टी. बिल्डिंग,
एस.सी.ई.आर.टी. कैंपस महेन्द्रू,पटना – 800001, मो.न. 09304995395, **e-mail:ankita@vidyabhawan.org**
भरत कुमार पटेल, म.न. 50,वैशाली रो हाऊस, जे.के.मोटर्स के पास, पाल पटिया, पाल रोड
जिला–सूरत 395003, मो.न. 09375411144,**e-mail:bharat@vidyabhawan.org**

सदस्यता प्रारूप जिसे भेजा जाना है – **निशांत कुमावत**, विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र, डॉ. मोहन सिंह मेहता मार्ग फतेहपुरा,
उदयपुर– 313004 (राज.), फोन नं. 0294–2451497, मो. न., 09414358108, 09950912525
e-mail: nishant141279@gmail.com

सदस्यता का प्रारूप जो भर कर भेजना है

मैं/ मेरी संस्था शिक्षा की बुनियाद/खोजें और जानें/ दोनों पत्रिकाओं/ की सदस्यता प्राप्त करना चाहता हूं/चाहती हूं/चाहती है, नाम .....पता.....
.....शहर.....राज्य...
.....पिन.....फोन. निवास स्थान/ऑफिस .....
.....मोबाइल नम्बर .....ईमेल.....है।
पत्रिका/पत्रिकाओं की सहयोग राशि एम.ओ./डी.डी./चेक द्वारा भेज दी गई है। सीधे विद्या भवन सोसायटी के बैंक एकाउंट में दिनांक ..... को जमा करा दी गई है अथवा जमा करवा दी जाएगी।

सदस्य का नाम व हस्ताक्षर

पाठ्यपुस्तकों के बोझ तले सिसकती रचनात्मकता

महेश पुनेठा

रचनात्मकता के विकास के लिए कार्य करने की स्वतंत्रता, अवसर की उपलब्धता तथा चुनौती का होना आवश्यक है। अनेक अध्ययनों में पाया गया है कि जब–जब बच्चों को स्वतंत्रता मिली है ,उन्हें कुछ करने के अवसर दिए गए तथा उनके सामने चुनौती प्रस्तुत की गई, तब–तब उनमें रचनात्मकता का विकास अधिक हुआ। समरहिल हो चाहे नीलबाग या सुखोक्लीन्स्की के खुशियों का स्कूल, इसके बड़े उदाहरण हैं। दबाब में रचनात्मकता संभव नहीं है। दबाव भय की परिणति होता है और भय की स्थिति में मनुष्य का मस्तिष्क स्वाभाविक ढंग से काम नहीं कर पाता है। मन विकृत हो जाता है। किसी नवाचार की हिम्मत तक नहीं जुटा पाता है। भयग्रस्त मन कभी भी सृजनशील नहीं हो सकता है। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि जब मनुष्य तनाव में होता है तब मस्तिष्क तक जाने वाला रक्त का

संचार मेरूदंड के ऊपरी छोर तक ही ठीक रहता है इस कारण मस्तिष्क न ठीक तरीके से सोच पाता है और न शरीर के अन्य भागों तक संकेत भेज पाता है। रचनात्मकता के लिए चिंतन का होना जरूरी है और चिंतन दबाब मुक्त परिवेश में ही गति प्राप्त करता है। यदि बच्चा तनाव में है और किसी बोझ से दबा है तो वह नया सोच ही नहीं सकता है और जब सोच ही नहीं सकता है तब रचने की बात तो दूर की कौड़ी है। यह जितना बच्चों के संदर्भ में सही है उतना ही बड़ों के भी। आज हमारी शिक्षा व्यवस्था में स्वतंत्रता, अवसर और चुनौती का घोर अभाव देखा जाता है। बात बच्चे की हो या फिर शिक्षक की, वे तमाम तरह के प्रतिबंधों और बोझ से दबे हुए हैं। पाठ्यपुस्तक उनमें से एक है।

पाठ्यपुस्तक का दबाब इतना जबरदस्त है कि न बच्चे और न ही शिक्षक उससे बाहर निकल पाते हैं। पाठ्यपुस्तक में निहित विषयवस्तु को पढ़ना और पढ़ाना ही उनके लिए अभीष्ट बन चुका है। पाठ्यपुस्तकों का अनुकरण करना ही शिक्षा का अंतिम लक्ष्य बन गया है। मुक्त करने वाली, कहलानेवाली शिक्षा बांधनेवाली बन गई है। शिक्षक की कोशिश रहती है कि निर्धारित समय में पाठ्यपुस्तक में संकलित विषयवस्तु को बच्चों तक पहुंचा दे और बच्चों का लक्ष्य रहता है, उसे ज्यों का त्यों रट कर परीक्षा में उगल दे। अधिक अंक पाने का इतना जबरदस्त दबाव है कि बच्चे के पास न खाने का समय है और न खेलने का। यह दबाव तब आतंक में बदल जाता है। शिक्षक निश्चित समयावधि में पाठ्यक्रम पूरा करने के दबाव में बच्चे की रुचि और आनंद का भी ध्यान नहीं रखते। वे बोझिल शिक्षण विधियों का इस्तेमाल करते हैं। विज्ञान जैसे विषयों में भी प्रयोग नहीं करवाते हैं। बिना प्रयोगशाला में गए प्रयोग–विधि लिखा दी जाती है और बच्चों से याद करने के लिए कह दिया जाता है।

पाठ्यपुस्तक पर अतिनिर्भरता के चलते शिक्षक और बच्चे के पास पाठ्यपुस्तक से बाहर निकल पाने का न अवसर है और न ही स्वतंत्रता। लगता है कि दोनों पाठ्यपुस्तक रूपी किले से बंधे हुए हैं। रस्सी की लंबाई के अनुपात में उसके चारों ओर ही चक्कर लगाने के लिए मजबूर हैं। कभी कोई उसे तोड़कर कुछ देर के लिए इधर–उधर चक्कर लगाना चाहता भी है, तो अंततः परीक्षा का भय उन्हें फिर उसी किले के पास लौटा ले आता है। बच्चे का मन बहुत करता है कि खुले में विचरण करे। कल्पनाओं की उड़ान भरे। अपनी तरह से दुनिया को देखे–सुने–समझे। कुछ नया करे। पर अध्यापक–अभिभावकों द्वारा उसे हांक–हूंक कर फिर से पाठ्यपुस्तक रूपी किले से बांध दिया जाता है। उसे समझाया जाता है कि उसकी सफलता इस किले से बंधे रहने में ही निहित है। जो भी करना है, इस किले के इर्द–गिर्द ही करना है। खूब उछलो–कूदो पर यहीं। बच्चा सुबह से शाम तक उसी के चक्कर लगाने में पिला रहता है। बच्चा स्कूल से घर तक पाठ्यपुस्तकों को साधने में लगा रहता है। जितनी पाठ्यपुस्तकें, उतनी ट्यूशन कक्षाएं। उससे बाहर निकलने की न उसको फुर्सत है और न ही छूट। हद तो तब हो जाती है कि जब पाठ्पुस्तकों में कहीं–कहीं रचनात्मकता के लिए दिए गए अवसरों को भी शिक्षकों द्वारा परीक्षा की दृष्टि से अनुपयोगी करार देकर समाप्त कर दिया जाता है। ऐसे में नीलबाग स्कूल के संचालक डेविड ऑसबरा का यह कथन पूरी तरह सत्य प्रतीत होता है–''बच्चे जब अपनी रचनात्मक ऊर्जा के चरम पर होते हैं, बारह–तेरह साल की उम्र में परीक्षा के दबाव में उन्हें रचनात्मकता के उन रास्तों को बंद करना पड़ता है क्योंकि परीक्षा को बहुत अनिवार्य माना जाता है।'' अध्यापक हों चाहे अभिभावक उनकी चाह रहती है कि बच्चा

पाठ्यपुस्तक को रट डाले। पाठ्यपुस्तक के बाहर वह न तो लिख सकता है और न ही पढ़ सकता। वह ऐसा उत्तर नहीं दे सकता है, जो पाठ्यपुस्तक से बाहर हो। जो पाठ्यपुस्तक की इस सीमा को नहीं मानता वह बिगड़ा या आवारा घोषित कर दिया जाता है। घोर अनुशासनहीन। ऐसे अनेक चिंतकों, दार्शनिकों, लेखकों, वैज्ञानिकों और कलाकारों के उदाहरण मिल जाएंगे जिन्हें यह उपाधि उनके विद्यार्थी जीवन में मिल चुकी है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे दुनिया बस पाठ्यपुस्तक तक ही सीमित है। कितनी विडंबना है कि पाठ्यपुस्तक से रटी सूचना के अंक होते हैं पर रचनात्मकता के नहीं। एक बच्चा पाठ्यपुस्तक से ग्रहण की गई जानकारी को ज्यों का त्यों उतार देता है और वह अधिक अंक प्राप्त कर लेता है बनिस्पत उस बच्चे के, जो अपनी समझ के आधार पर प्रश्न का उत्तर देता है। हमारे स्कूलों की पाठ्यपुस्तकों पर कितनी निर्भरता है, यह इस बात से देखा जा सकता है कि यदि सत्र के प्रारम्भ में पाठ्यपुस्तक उपलब्ध नहीं है तो शिक्षण कार्य प्रारम्भ ही नहीं होता है। एक आम तर्क होता है कि जब पाठ्यपुस्तक ही नहीं है तो पढ़ाई कैसे शुरू होगी? यह प्रवृत्ति बच्चे की रचनात्मकता को कुंद करती है। बच्चा ज्ञान निर्माण की दिशा में आगे नहीं बढ़ पाता है। यह भ्रम भी पैदा हो जाता है कि पाठ्यपुस्तक में संकलित सूचना ही अंतिम ज्ञान है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा–2005 भी पाठ्यपुस्तक पर अतिशय जोर देने के दुष्प्रभावों की ओर हमारा ध्यान खींचती है– ''अगर अपने विकास की दौड़ में विद्यार्थी अधिक समय यथार्थ विश्व के अलावा किताबों की दुनिया में बिताते हैं, तो बहुत संभावना उनके टूट जाने की रहती है। शिक्षा का उद्देश्य नकारात्मक बन जाता है। यह विद्यार्थियों के दिमाग को दो टुकड़ों में बांट देता है। वह एक ऐसी किताबी दुनिया को याद करने में लगा रहता है जिस पर उसका कोई वश नहीं होता। ''

पाठ्यपुस्तकों की यह रूढ़ दुनिया रचनात्मकता की दुश्मन है। पाठ्यपुस्तक की इस जकड़बंदी के चलते न अध्यापक की और न बच्चे की कल्पनाशीलता और सूझबूझ उभर पाती है। पाठ्यपुस्तक पर अतिनिर्भरता कल्पनाशीलता के रास्ते अवरूद्ध कर देती है। जबकि रचनात्मकता के लिए कल्पनाशीलता का होना आवश्यक है। जो जितना अधिक कल्पनाशील होगा उतना ही अधिक रचनात्मक। इस बात को महसूस करते हुए ही गांधी सरीखे अनेक शिक्षाविद पाठ्यपुस्तक मुक्त शिक्षा प्रणाली की बात करते हैं। गांधीजी ने 'हरिजन' के एक लेख में लिखा : ''पाठ्यपुस्तकों से पढ़ाने वाला शिक्षक अपने छात्रों को मौलिकता नहीं सिखा सकता। वह स्वयं पाठ्यपुस्तकों का गुलाम हो जाता है और मौलिक होने का कोई अवसर नहीं ढूंढ पाता।'' रही–सही कसर पाठ्यपुस्तकों की भाषा पूरी कर देती है। पाठ्यपुस्तकों की भाषा बच्चों की सृजनशीलता को नुकसान पहुंचा रही है। अंग्रेजी माध्यम के चलते बच्चे की चिंतन–मनन की प्रक्रिया बाधित हुई है। बच्चा पाठ्यवस्तु को रट तो लेता है पर नया कुछ नहीं जोड़ पाता है। एक ऐसी भाषा जो अपनी मातृभाषा से इतर है, बच्चे के लिए उसमें चिंतन और कल्पना करना स्वाभाविक नहीं है। इससे बच्चे की कल्पनाशीलता बाधित हो जाती है। नया करने की शुरुआत तो हमेशा चिंतन और कल्पना से ही होती है। चिंतन और कल्पना के बिना भला रचनात्मकता कैसे संभव है?

चुनौती के अवसरों का अभाव भी रचनात्मकता के विकास में एक बड़ी बाधा है। आज बच्चों के सामने अध्ययन से जुड़ी चुनौतियां कम होती जा रही हैं। अध्ययन के दौरान उनको ऐसी चुनौतियों का सामना कम ही करना पड़ता है, जिससे उन्हें

जूझना पड़ता हो, अधिक चिंतन–मनन की जरूरत पड़ती हो। पाठ्यपुस्तक में आने वाले कठिन स्थलों का समाधान पाने के लिए उनके पास ट्यूशन से लेकर रेफ्रेशर और इंटरनेट जैसे साधन उपलब्ध हैं, जहां उन्हें सबकुछ तैयार मिल जाता है। गलती कर सीखने के अवसर तो उनके पास रहते ही नहीं। छोटी–सी भी कठिनाई आने पर बच्चे स्वयं कोशिश करने के बजाय उक्त माध्यमों की शरण में चले जाते हैं और अपने कठिन प्रश्नों के उत्तर पा लेते हैं। ऐसे में खोजी प्रवृत्ति समाप्त होती जा रही है। जबकि खोज ही है, जो बच्चे की सृजनशीलता को बढ़ाती है। गाइड या रेफ्रेशर रचनात्मकता की कातिल तो हैं ही साथ ही दकियानूसी , अलोकतांत्रिक एवं अप्रमाणिक सूचनाओं व तथ्यों को भी बढ़ावा दे रही हैं। बच्चे 'परिजीवी' बनते जा रहे हैं।

सृजनशीलता के विकास के लिए अवलोकन –खोज–विश्लेषण के अधिकाधिक अवसर जरूरी हैं। बच्चा प्रत्यक्ष– अप्रत्यक्ष रूप से जितना अधिक दुनिया को देख–समझ पाता है, उसमें उतनी अधिक सृजनशीलता के विकास की संभावना होती है। दुनिया को जानने–समझने का एक तरीका अध्ययन है, पर आज पाठ्यपुस्तकों से दबे बच्चों को उससे बाहर की पुस्तकों को पढ़ने का बिल्कुल भी अवसर नहीं मिल पाता है। फलस्वरूप बाहरी दुनिया के बारे में उसकी जानकारी बहुत ही कम होती है। इसलिए बच्चों को अपनी बाहर की दुनिया के बारे में अधिक से अधिक जानने के लिए प्रोत्साहित करना होगा। उन्हें स्वयं करने के अधिक से अधिक अवसर प्रदान करने होंगे। उनके सामने चुनौती प्रस्तुत करनी होगी। रचनात्मकता के लिए तनाव मुक्त परिवेश का निर्माण करना होगा। घर में भी, स्कूल में भी, पाठ्यपुस्तकों में भी और उनसे बाहर भी। ताकि बच्चा स्वयं नया करने के लिए प्रेरित हो। बड़ों को समझना होगा कि उनकी भूमिका केवल वातावरण सृजन की है। उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि नया करना मनुष्य की मूलप्रवृत्ति है। साथ ही शिक्षकों को भी स्वायत्तता प्रदान करनी होगी। शिक्षण के अतिरिक्त उन्हें किसी तरह के अन्य कार्यों में नहीं लगाना होगा। ताकि वे अपने शिक्षण को रचनात्मक बना सकें। मौजूदा परीक्षा पद्धति में आमूलचूल परिवर्तन करना होगा। पाठ्यपुस्तकों को बच्चों की रुचि के अनुकूल और रचनात्मक गतिविधियों के अवसर प्रदान करने वाली बनाना होगा। पाठ्यचर्या 2005 में स्वागत योग्य कदम उठाया गया है जिसमें बच्चे को किताबों और स्कूल की दुनिया से बाहर निकालने की बात कही है। साथ ही शिक्षकों को स्वायत्तता प्रदान करने का समर्थन किया गया है। हम समझते हैं कि इससे स्थिति में कुछ परिवर्तन आएंगे। पर देखना यह है कि शिक्षा के दस्तावेज में लिखी इस बात को दस्तावेज से बाहर कितना महत्त्व दिया जाता है। मौजूदा व्यवस्था के कर्ता–धर्ताओं को सृजनशीलता कितनी पच पाती है।

महेश पुनेठा : शिक्षक हैं और पिथौरागढ़ में रहते हैं। शिक्षक साथियों के लिए 'शैक्षिक दखल' का प्रकाशन करते हैं। शिक्षा व समाज के मसलों पर निरंतर रूप से लेखन।

इधर मैकॉले उधर गांधी

सुनील

अच्छी शिक्षा से आशय अच्छे नंबर लाना, आईआईटियन या आईएएस तैयार करना नहीं है बल्कि अच्छी शिक्षा से मतलब आनंददायक, रुचिकर, बहुआयामी शिक्षा से है, जो जिम्मेदार नागरिक और अच्छे इंसान तैयार करे। देखिए, इसी विचार से केरल राज्य में चल रहे सल–सबील ग्रीन स्कूल को इस आलेख में।

पिछले दिनों केरल में त्रिशूर के पास एक स्कूल में जाने का मौका मिला। देश में चल रहे स्कूलों से यह काफी अलग था। करीब पांच एकड़ जमीन में जंगल है, बगीचा है, खेत है और स्कूल भी है। कक्षाओं के लिए खुला शेड है, जिस पर खपरैल या नारियल के पत्तों की छत है। बच्चे कक्षा में पढ़ने के अलावा खेत और बगीचे में भी काम करते हैं। मेरा स्वागत नारियल के पानी से किया गया और बाद में वहीं लगे केले मैंने खाए।

स्कूल के बच्चों के साथ मेरी सभा का संचालन एक वरिष्ठ छात्रा ने किया। सबसे पहले छात्राओं के समूह ने एक गीत से स्वागत किया, जो कई भारतीय भाषाओं में था। मैंने उनसे पूछा कि मैं हिंदी में बोलूं या अंग्रेजी में, तो ज्यादा बच्चों ने हिंदी के पक्ष में हाथ खड़े किए। इस स्कूल में चार भाषाएं पढ़ाई जाती हैं– मलयालम, हिंदी, अंग्रेजी और अरबी। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। क्यों, मैंने पूछा तो स्कूल संचालक ने बताया कि वे केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड का पाठ्यक्रम पढ़ाते हैं और उसमें मलयालम माध्यम का प्रावधान नहीं है। फिर भी वे तीसरी कक्षा तक मलयालम में पढ़ाते हैं। एक कारण शायद यह भी होगा कि पालक भी शिक्षा अंग्रेजी माध्यम में चाहते हैं। फिर भी हिंदी पर उनका बहुत आग्रह है।

संचालक ने मुझे कहा कि अच्छे हिंदी शिक्षक खोजने में, मैं उनकी कुछ मदद करूं। इस स्कूल का संचालन एक मुस्लिम दंपती कर रहे हैं। लेकिन बच्चे सभी धर्मों के हैं और संचालकों का भी सभी धर्मों के प्रति आदर के भाव पर आग्रह है।

बच्चों की जागरूकता के स्तर से मैं काफी प्रभावित हुआ। मैंने उनसे पूछा कि वे बड़े होकर क्या बनना चाहते हैं, तो जवाब मिला कि अच्छे नागरिक और अच्छा इंसान। मुझे शंका हुई कि कहीं यह सिखाया हुआ जवाब तो नहीं है। पर जल्दी ही स्पष्ट हो गया कि ऐसा नहीं है। मेरे वक्तव्य के बाद उनके सवाल पूछने की बारी थी, तो एक ने पूछा, राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर अच्छी होने पर भी देश की हालत खराब क्यों है? बाद में दो छात्राओं ने मुझसे देर तक बात की। वे इरोम शर्मिला के बारे में जानती थी। मगर क्या पूर्वोत्तर से सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून हटाना उचित होगा, एक ने मुझसे पूछा। पूर्वोत्तर, कश्मीर, माओवाद आदि पर फिर विस्तार से बात हुई।

इस स्कूल में बच्चों से मेरी पहली मुलाकात नर्मदा घाटी बचाओ आंदोलन के पचीस वर्ष पूरे होने पर आयोजित कार्यक्रम में हुई। वे बच्चे खूब जोश से नारे लगा रहे थे, गीत गा रहे थे, लोगों से जाकर हिंदी में बात कर रहे थे। मैंने उन्हें सुबह झाड़ू से सफाई करते देखा। उनसे पूछा कि तुम्हें यहां घूमने में मजा आ रहा है, तो एक लड़की ने कहा कि हम घूमने नहीं, सीखने आए हैं। इसके पहले वे अयोध्या के मुद्दे पर उत्तर भारत में आयोजित एक सद्भाव यात्रा में भी शरीक हुए थे। दिसंबर के अंतिम सप्ताह में उनका पांच दिन का शिविर केरल की एक नदी किनारे लगने वाला है, जो औद्योगिक प्रदूषण से प्रभावित हो रही है। केरल में ही प्लाचीमाडा में कोका–कोला के संयंत्र के खिलाफ संघर्ष से भी ये बच्चे अच्छी तरह परिचित हैं। उन्होंने बताया कि वे कोका–कोला, पेप्सी आदि शीतल पेय नहीं पीते हैं।

इस स्कूल का नाम 'सल–सबील ग्रीन स्कूल' है और केरल में बह रही पर्यावरण चेतना की बयार का यह एक हिस्सा है। सल–सबील अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है– 'स्वर्ग का झरना'। इस स्कूल के नए बन रहे भवन का शिलान्यास मेधा पाटकर ने किया था। स्कूल के संचालक हुसैन जनांदोलनों के राष्ट्रीय समन्वय के केरल प्रांत के संयोजक हैं। वे बच्चों की शिक्षा को जन संघर्षों, पर्यावरण चेतना, सामाजिक सरोकारों, नैतिक मूल्यों और धार्मिक सद्भाव से जोड़ने की कोशिश कर रहे हैं।

इस स्कूल में दसवीं कक्षा तक पढ़ाई होती है। साधनों के अभाव के कारण कोई छात्रावास नहीं है। बच्चे आसपास के इलाके से प्रतिदिन बस से स्कूल आते हैं। फीस तीन–चार सौ रुपए महीना है, जो उस इलाके के साधारण परिवारों की हैसियत के अंदर है। इस मामले में यह स्कूल अन्य वैकल्पिक स्कूलों से अलग है। 'ऋषि वैली'' जैसे स्कूलों ने भी वैकल्पिक शिक्षा के

अच्छे प्रयोग किए हैं, लेकिन वे काफी महंगे हैं। कृष्णमूर्ति फाउंडेशन, अरविंद आश्रम आदि द्वारा संचालित अच्छे स्कूल अधिकतर संपन्न उच्चवर्ग के बच्चों के लिए आरक्षित हो गए हैं। दयानंद एंगलो वैदिक सोसायटी के डीएवी स्कूल और कॉलेज भी आम ढर्रे में ढल गए हैं और व्यावसायीकरण की गिरफ्त में आ रहे हैं। संघ परिवार द्वारा संचालित सरस्वती विद्यालयों में सांप्रदायिकता और संकीर्णता की सोच का खतरा तो है ही, व्यावसायिकता का प्रवेश वहां भी हो गया है।

शिक्षा के मामले में आज यही सबसे बड़ा सवाल है। देश का हर स्कूल सल–सबील स्कूल कैसे बने? अच्छी शिक्षा त्रिशूर जिले के उस इलाके के तीन–चार सौ बच्चों तक सीमित न रह कर देश के सारे तीस करोड़ बच्चों को कैसे मिले? अच्छी शिक्षा से आशय अच्छे नंबर लाने और आईआईटियन या आईएएस तैयार करने से नहीं है। अच्छी शिक्षा से मतलब आनंददायक, रुचिकर, बहुमुखी, बहुआयामी शिक्षा से है, जो महज नौकरशाह या सायबर–कुली तैयार करने के बजाए बच्चे की विविध प्रतिभाओं का विकास करते हुए जिम्मेदार नागरिक और अच्छे इंसान तैयार करे।

आज हमारे स्कूलों में ठीक उल्टा होता है। पढ़ाई का मतलब सिर्फ रटना है और रटना कभी भी आनंददायक नहीं हो सकता। अंग्रेजी माध्यम की होड़ में यह कष्ट और बढ़ गया है, क्योंकि एक विदेशी भाषा में रटना ज्यादा मुश्किल है। बस्ते का बोझ बढ़ता जा रहा है। ऊपर से बच्चों को स्कूल के अलावा ट्यूशन और कोचिंग में जाना पड़ता है। माता–पिता बच्चों को छोटी उम्र से ही प्रतिस्पर्धा की मशीन में धकेल देते और उनका बचपन छीन लेते हैं।

स्कूल की छुट्टी होने पर बच्चे इतने प्रफुल्लित होते घर की तरफ इस तरह दौड़ लगाते हैं, मानो जेल से छूटे हों। शिक्षा खेल–खेल में क्यों न हो, गीत–नाच–कहानी–नाटक के साथ क्यों न हो, सैर–सपाटे के साथ क्यों न हो, इस पर कभी सोचा ही नहीं गया। आखिर भूगोल की पढ़ाई नदियों और पहाड़ों की सैर करते हुए, अर्थशास्त्र की पढ़ाई खेतों–बाजारों में घूमते हुए और विज्ञान की पढ़ाई कुदरत और आसपास के वातावरण में प्रयोग करते हुए ही सबसे अच्छी हो सकती है। लेकिन हमने पूरी पढ़ाई को परिवेश और समाज से पूरी तरह काट कर बंद कमरों में, किताबी ज्ञान को रटने तक सीमित कर दिया है। 'तारे जमीं पर' फिल्म में नन्हें नायक की तरह अगर बच्चा उबाऊ कक्षा के श्यामपट्ट की तरफ न देख कर, खिड़की के बाहर चिड़िया या तितली को देखने लगता है, तो वह डांट और मार खाता है, जबकि दोष इस शिक्षा व्यवस्था का होता है।

एक बच्चे के अंदर कई प्रतिभाएं हो सकती हैं। वह एक अच्छा खिलाड़ी, कलाकार, नेता, किसान, मछुआरा, कारीगर या मिस्त्री हो सकता है। समाज में इन सबकी जरूरत है। पर हमारी शिक्षा व्यवस्था इन सारी प्रतिभाओं और कौशलों को नजरअंदाज करके महज किताबी ज्ञान को रटने और उसे परीक्षा भवन में ढाई–तीन घंटे में उगल देने की प्रतिभा और क्षमता को ही पहचानती और पुरस्कृत करती है। अच्छी पढ़ाई के नाम पर भी महज ज्यादा से ज्यादा जानकारी को बच्चे के दिमाग में ठूंस देने की कोशिश होती है। इस चक्कर में देश के करोड़ों बच्चों की ज्यादा उपयोगी विविध प्रतिभाओं का तिरस्कार और उपेक्षा होती जाती है। यह उनके साथ अन्याय और देश की प्रगति में बड़ी बाधा है।

इस तरह की शिक्षा का सामाजिक सरोकारों, नैतिक मूल्यों और देश की जरूरतों से अलगाव

और कटाव भी स्वाभाविक है। अच्छे अंक लेकर ऊंची कमाई वाली नौकरी पाना इसका एकमात्र लक्ष्य और सफलता की कसौटी बन गया है। ऐसी शिक्षा के सफल उत्पाद स्व–केंद्रित, स्वार्थी और भ्रष्ट बनेंगे ही। पिछले कुछ समय से शिक्षा में व्यवसायीकरण और बाजारीकरण की जो आंधी चली है, उसमें इन विकृतियों को और बढ़ाया है। सरकार ने भी शिक्षा मंत्रालय का नाम बदल कर 'मानव संसाधन विकास मंत्रालय' कर दिया है। तब से घोषित रूप से शिक्षा अच्छे नागरिक और अच्छे इंसान तैयार करने की लोकतांत्रिक आजाद भारत के नवनिर्माण का लक्ष्य छोड़कर महज वैश्विक पूंजीवादी बाजार के लिए संसाधन तैयार करने का माध्यम बन गई है। अफसोस की बात है कि इसके बावजूद देश के कई मूर्धन्य शिक्षाशास्त्री इसी सेवा में जुटे हैं।

भारतीय शिक्षा की यह दयनीय हालत कई अन्य मामलों की तरह औपनिवेशिक विरासत के कारण है। इसकी नींव लॉर्ड मैकॉले ने अंग्रेज साम्राज्य की जरूरत के हिसाब से डाली थी। उन्हें महज बाबू और हुक्म का पालन करने वाले कारिंदों की जरूरत थी। इसलिए रचनात्मकता, मौलिकता, जिज्ञासा, विविधता आदि से रहित इस शिक्षा में सिर्फ अक्षरज्ञान, कागजीज्ञान और अनुकरण पर जोर दिया गया था।

आजादी के आंदोलन में इसे आमूल–चूल बदलने की बात बराबर होती थी। महात्मा गांधी ने 'नई तालीम' के कई प्रयोग किए थे। रवींद्रनाथ ठाकुर ने शांतिनिकेतन की स्थापना की थी। गिजुभाई ने नई तरह की शिक्षा और बाल मनोविज्ञान पर अद्‌भुत पुस्तकें लिखी थीं। उनकी लघु उपन्यासनुमा पुस्तक 'दिवास्वप्न' ने तो कई लोगों को नए ढंग की शिक्षा का सपना देखने के लिए प्रेरित किया है। लेकिन ये पुस्तकें गुजराती में थीं, अंग्रेजी में नहीं, इसलिए आज भी भारत के शिक्षा–ढांचे में उनको महत्त्व और मान्यता नहीं मिली है। आजाद भारत में शिक्षा व्यवस्था को बदलने का काम नहीं हो पाया है।

मध्यप्रदेश के होशंगाबाद में विज्ञान शिक्षण जैसे कुछ प्रयोग हुए, पर शासकों की नाराजगी उनको भी ले डूबी। कुल मिलाकर, यह आजाद भारत की विडंबना है कि अभी तक गांधी, गिजुभाई, टैगोर, फूले, राधाकृष्णन, ज़ाकिर हुसैन सबके ऊपर मैकॉले हावी और भारी रहा है। गिजुभाई का दिवास्वप्न आज भी साकार नहीं हुआ है, दिवास्वप्न ही रह गया है। वैश्वीकरण और बाजारवाद का मैकॉलेवाद के साथ मेल और ज्यादा भयानक होता जा रहा है। अब शिक्षा उबाऊ, नकलची, अप्रासंगिक, आभिजात्य और बोझ के साथ बाजारू भी बनती जा रही है।

मैकॉले एक तरफ है, गांधी–गिजुभाई दूसरी तरफ। देश किधर जाएगा, इसका फैसला आने वाले समय में होगा। इस चयन में सल–सबील जैसे स्कूल हमारे लिए मददगार साबित होंगे। खतरा यही है कि पूरी व्यवस्था में बदलाव के बजाए वे एक टापू और अपवाद बन कर न रह जाएं।

सुनील : जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली से पढ़ाई करके होशंगाबाद जिले के केसला में रहकर आदिवासियों के हकों के लिए कार्य कर रहे हैं। शिक्षा व समाज के मसलों पर निरंतर लिखते हैं। सामयिक वार्ता के संपादक हैं।

साभार : जनसत्ता, दिनांक 17 दिसंबर 2010 से।

राष्ट्रीय बेसिक शिक्षा 1937–1944

मॉर्जरी सॉइक्स

गत अंक में हमने पढ़ा कि किस प्रकार गांधीजी ने दांडी यात्रा के बाद जीवन का एक नया अध्याय शुरू करते हुए पूना अनशन के माध्यम से अस्पृश्यों की बदहाली की ओर देश का ध्यान आकर्षित किया तथा कहा कि अब उनका पूरा ध्यान अछूतों को सम्मान दिलाने पर ही केंद्रित होगा। इस कार्य को अंजाम देने के लिए गांधीजी ने अपने मित्र जमनालाल बजाज की मदद से वर्धा समेत आसपास के गांवों को रचनात्मक कार्यक्रमों की जीवंत प्रयोगशाला में तब्दील कर दिया था। हमने गांधी द्वारा अपने सेवाकार्यों के लिए चुने गए सेगांव (सेवाग्राम) के बारे में, जिसे आशादेवी ने 1939 में आयोजित पहले बेसिक सम्मेलन में प्रस्तुत किया था, के बारे में पढ़ा। अब आगे...

गांधीजी के मित्र जमनालाल बजाज वर्धा मारवाड़ी एज्यूकेशनल सोसायटी के अध्यक्ष थे। 1937 में सोसायटी अपनी रजत जयंती मनाने की तैयारी कर रही थी। सोसायटी के तहत वर्धा में नवभारत विद्यालय नामक हाई स्कूल चलता था। इसके प्रधानाचार्य श्रीलंका से आए तमिल शिक्षाशास्त्री ई. डब्ल्यू. आर्यनायकम थे। वे शांतिनिकेतन में रवींद्रनाथ टैगोर के साथ भी काम कर चुके थे। उनकी पत्नी आशा देवी एक मेधाविनी विदुषी थीं, जिनके परिवार के शांतिनिकेतन से करीबी संबंध थे। सोसायटी के सचिव श्रीमन्नारायण का सुझाव था कि सिल्वर जुबली कार्यक्रम के मौके पर गांधीजी के शैक्षणिक विचारों पर चर्चा के लिए एक राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन का आयोजन किया जाए। श्रीमन्नारायण के इस प्रस्ताव को आर्यनायकम का भी समर्थन प्राप्त था। श्रीमन्नारायण ने यह प्रस्ताव गांधीजी के समक्ष रखा और कार्यक्रम की अध्यक्षता करने के लिए उनसे आग्रह किया। गांधीजी ने सहर्ष उनका निवेदन स्वीकार कर लिया। यह सम्मेलन वर्धा में 22–23 अक्तूबर 1937 को आयोजित किया गया। इसमें गिने–चुने लोगों को ही न्यौता दिया गया था। आमंत्रण केवल उन्हीं लोगों को भेजा गया जो एक सच्ची भारतीय शिक्षा के बारे में वाकई गंभीर थे। इसके अलावा जामिया मिलिया इस्लामिया, गूजरात विद्यापीठ, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, मछलीपटनम स्थित आंध्र जातीय कलाशाला आदि राष्ट्रवादी शिक्षा संस्थानों को भी निमंत्रित किया गया था। नई प्रांतीय सरकारों के कुछ मंत्रियों और अधिकारियों को भी न्यौता दिया गया था। चूंकि सहभागियों की संख्या बहुत सीमित और स्तर ऊंचा था इसलिए सम्मेलन काफी उत्तेजक रहा और वहां सामने आए विचारों को सीधे अमली जामा पहनाने का रास्ता खुलने लगा।

गांधीजी ने सम्मेलन के समक्ष वे ही प्रस्ताव रखे जिन्हें वे पिछले दिनों हरिजन में लिख चुके थे। उनके प्रस्ताव इस प्रकार थे –

प्राथमिक, माध्यमिक और हाईस्कूल के नाम पर आज जो शिक्षा दी जा रही है, उसके स्थान पर एक ऐसी प्राथमिक शिक्षा होनी चाहिए जो सात साल या उससे लंबे समय तक चले, मैट्रिकुलेशन

तक जिसमें अंग्रेजी के अलावा सारे विषय पढ़ाए जाएं, जिसमें एक ऐसा पेशेवर काम शामिल हो जिसका इस्तेमाल बच्चों के मस्तिष्क को व्यावहारिक ज्ञान की तरफ मोड़ने में किया जा सके। ऐसी शिक्षा अपनी समग्रता में निश्चित तौर पर स्वावलंबी होनी चाहिए। स्वावलंबन ही उसकी वास्तविकता की असली कसौटी है। गांधीजी ने कहा कि वे किसी पर अपने विचार नहीं थोपना चाहते। उन्होंने स्वतंत्र और बेबाक आलोचना का स्वागत करते हुए कहा कि वे इस बारे में हर किस्म के भ्रम को दूर कर देना चाहते हैं। मिसाल के तौर पर, यह कहा जा रहा था कि गांधीजी साहित्यिक शिक्षा के खिलाफ हैं। यह भी कहा जा रहा था कि स्कूलों में बच्चों का शोषण होने लगेगा, क्योंकि उन्होंने अपनी योजना में धार्मिक शिक्षा को शामिल नहीं किया है।

गांधीजी ने अपने भाषण में कई ऐसे बिंदुओं को स्पर्श किया, जो आज 50 साल बाद भी उतने ही प्रासंगिक हैं, जितने तब थे। उन्होंने कहा था, शिक्षा की मौजूदा व्यवस्था न सिर्फ अपव्ययी है, बल्कि निश्चित रूप से हानिकारक है। बच्चे अपने मां–बाप, अपने गांव, अपने पारंपरिक कौशल से दूर होते चले जाते हैं। वे छोटे–छोटे बाबूगिरी वाले कामों पर निर्भर होकर निस्सहाय हो जाते हैं, वे बुरी आदतों और शहरी अकड़ का शिकार हो जाते हैं और गांवों के ईमानदार शारीरिक श्रम की उपेक्षा करने लगते हैं, जिस पर हम सभी निर्भर हैं। मैं साहित्यिक शिक्षा का विरोधी नहीं हूं, बल्कि मैं तो ऐसी शिक्षा देने का सही तरीका बताना चाहता हूं ताकि हमारे बच्चे हमारी संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि बन सकें और उनमें हमारे राष्ट्र की सच्ची मेधा झलकती हो। जहां तक शोषण की बात की जा रही है, तो मैं पूछना चाहता हूं कि क्या हम किसी बच्चे को विनाश से बचाकर कुछ गलत कर रहे होते हैं? जब बच्चे खुद अपनी मेहनत के रूप में अपनी पढ़ाई का मोल चुकाएंगे, तो वे ज्यादा साहसी बनेंगे और उनमें ज्यादा आत्मविश्वास आएगा। अब सवाल उठता है कि मैं धार्मिक शिक्षा पर जोर क्यों नहीं देता? इसका कारण ये है कि यह व्यवस्था हिंदुओं, मुसलमानों, पारसियों, ईसाइयों, सभी के लिए समान है और मैं सभी को व्यावहारिक धर्म – स्वावलंबन का, यानी अपनी मदद खुद करने का पाठ पढ़ा रहा हूं। यह पूरी योजना अहिंसा के मूल्य से ही पैदा होती है। यह अहिंसा और सत्य का एक अनिवार्य अंग है। इस मसले पर काफी गहन चर्चा हुई, नए–नए विचार सामने आए। बालवाड़ी आश्रम का काम देख रहे विनोबा भावे ने गांधीजी के इस खयाल का समर्थन किया कि तकली पर कताई सीखने वाले बच्चों के लिए इस अभ्यास में काफी शैक्षणिक संभावनाएं मौजूद हैं। लेखिका को खुद याद है कि कैंब्रिज में सामाजिक इतिहास के अध्ययन के दौरान पुरातात्विक स्थलों पर पाई गई घेरेदार चकरियां कितना भ्रमित करती थीं; परंतु कई साल बाद उसे यह जान कर बड़ा सुखद आश्चर्य हुआ था कि पत्थर या मिट्टी की बनी ये चकरियां असल में प्राचीन तकलियां थीं जिनके बांस या लकड़ी के लट्ठे काफी पहले सड़ चुके थे।

काका साहब कालेलकर ने कुछ ऐसी बातों का हवाला दिया जो आने वाले सालों में और ज्यादा अर्थपूर्ण हो गए थे। उन्होंने कहा, आओ शिक्षा को कक्षा की चारदीवारी से मुक्त कराएं.... अपनी स्कूलिंग को कभी अपनी शिक्षा पर हावी न होने दो! यह हैरानी की बात है कि चाहे सरकार के भीतर हों या बाहर, आज कितने सारे लोग यही सोचते हैं कि शिक्षा और स्कूलिंग एक ही चीज है! आशा देवी ने बताया कि टैगोर की तरह गांधीजी के शिक्षा संबंधी विचार भी आंशिक रूप से प्राचीन भारतीय गुरुकुल परंपरा से निकले हैं, इसलिए यदि हमें इन विचारों पर रचनात्मक तरीके से काम

करना है तो हमने जो सीखा है अपने जहन से, उसे पोंछ कर एक नई शुरुआत करनी होगी।

सम्मेलन में ये प्रस्ताव पारित किए गए :

1. राष्ट्रव्यापी स्तर पर सात साल की मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा दी जानी चाहिए।

2. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए।

3. इस दौरान शिक्षा की प्रक्रिया किसी न किसी उत्पादक शारीरिक कार्य के इर्द–गिर्द केंद्रित होनी चाहिए तथा हर गतिविधि या प्रशिक्षण को जहां तक संभव हो, उस केन्द्रीय हस्तकौशल के साथ जोड़ा जाना चाहिए, जिसे बच्चे के वातावरण को ध्यान में रख कर चुना गया है ताकि इस हस्तकौशल से बनने वाले उत्पादों से शिक्षकों का खर्च निकाला जा सके।

इन प्रस्तावों को फरवरी–मार्च 1938 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अगली सालाना बैठक में राष्ट्रीय शिक्षा नीति के तौर पर स्वीकार कर लिया गया। इसमें घोषणा की गई कि राष्ट्र की प्रगति अंततः लोगों को मिलने वाली शिक्षा की प्रकृति, विषय–वस्तु और उसके उद्देश्य पर निर्भर करती है। एक व्यावहारिक कार्यक्रम का विकास व मार्गदर्शन करने के लिए एक स्वतंत्र राष्ट्रीय शिक्षा परिषद का गठन किया गया और उसे हिंदुस्तानी तालीमी संघ का नाम दिया गया।

आज 50 साल बाद राष्ट्रीय शिक्षा की इस तस्वीर पर नजर डालने के बाद कोई भी इन चारों बिंदुओं में से हरेक पर सवाल खड़ा किए बिना नहीं रहेगा। पहले बिंदु से यह पता नहीं चलता कि इसमें बाल्यावस्था के कौन से सात वर्षों का जिक्र किया जा रहा है। गांधीजी इस बात को लेकर आश्वस्त थे कि इस शिक्षा की शुरुआत तब होनी चाहिए जब बच्चा सात साल का हो चुका हो क्योंकि तब तक बच्चों की मांसपेशियों के बीच पर्याप्त समन्वय आ जाता है जोकि हस्तकौशल का आनन्द लेने के लिए आवश्यक होता है। भारत के अधिकतर इलाकों में आम तौर पर बच्चों को छठे या पांचवे साल में ही स्कूल भेज देने का चलन था। अगर यही चलन बेसिक स्कूलों में लागू किया जाता, तो मोहभंग की स्थिति पैदा हो सकती थी क्योंकि इस उम्र तक बच्चे पर्याप्त रूप से परिपक्व नहीं होते हैं। हमारे आधुनिक अंग्रेजी माध्यम के नर्सरी स्कूलों में तो बच्चों को नुकसान पहुंचाने के एक से एक उदाहरण मौजूद हैं। उन्हें ऐसी चीजें सीखने को दी जाती हैं जिनके लिए उनका दिमाग परिपक्व और तैयार नहीं होता। 3 साल के नन्हें बच्चों से उम्मीद की जाती है कि वे अंग्रेजी की वर्णमाला में महारत हासिल कर लें!

सात साल की अवधि अगर जल्दी शुरू होती है तो जल्दी ही खत्म भी हो जाती है। गांधीजी ने न केवल पढ़ाई पूरी करने के लिए चौदह साल की उम्र को न्यूनतम उम्र माना बल्कि वे तो स्कूली शिक्षा को पन्द्रहवें या सोलहवें वर्ष तक भी जारी रखने के हिमायती थे। तालीमी संघ ने खुद यह सिफारिश की थी कि स्कूली शिक्षा के लिए सात से सोलह साल की उम्र सही रहेगी। यह बात मनु की उस पुरानी कहावत से जाकर जुड़ती है, जिसमें सोलहवें साल को एक उत्तरदायित्वपूर्ण वयस्क जीवन में प्रवेश का द्वार बताया गया था और विनोबा भावे गांधीजी के शैक्षणिक विचारों के प्रसार में इस बात का अक्सर हवाला देते थे। क्या आज हमारे शिक्षाशास्त्रियों को इस सवाल पर गंभीरता से नहीं सोचना चाहिए?

सम्मेलन के पहले ही प्रस्ताव से एक और सवाल पैदा होता है : क्या शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए? क्या अनिवार्यता का विचार गांधीजी के समूचे दर्शन के लिए बाहरी चीज नहीं है? उन्होंने यंग

इंडिया में 14 अगस्त 1924 को लिखा था, मुझे किसी भी तरह की अनिवार्यता से चिढ़ है। मैं नहीं चाहता कि यह राष्ट्र किसी अनिवार्यता के कारण शिक्षित हो.... किसी भी समाज के सही विकास के लिए इस विश्वास से ज्यादा हानिकारक चीज और कोई नहीं हो सकती कि स्वैच्छिक प्रयासों से कोई सुधार नहीं लाया जा सकता। इस तरह से प्रशिक्षित व्यक्ति स्वराज के लिए कतई उपयुक्त नहीं होगा।

अनिवार्यता का आशय राज्यसत्ता द्वारा नियंत्रण से है। गांधीजी अकसर कहते थे कि वे राज्यसत्ता की ताकत में किसी भी इजाफे से सबसे ज्यादा भय खाते हैं क्योंकि वह निजी पहलकदमी का दमन करती है। जब विनोबा भावे इस बात पर जोर दे रहे थे कि शिक्षा को राज्य के नियंत्रण से मुक्त होना चाहिए तो संभवतः वे भी सममेलन के अनौपचारिक प्रस्तावों की बजाए गांधीजी की इस सोच को ही प्रतिध्वनित कर रहे थे। इसके बावजूद हम देखते हैं कि 1937–38 में गांधीजी बार–बार एक प्रकार से राज्य द्वारा नियंत्रण को मान्यता देते नजर आते हैं : राज्य सात साल की उम्र में बच्चे का नियंत्रण अपने हाथ में ले ले और उसे एक कमाऊ व्यक्ति के रूप में परिवार को वापस लौटाए। यह कि यदि राज्य स्कूलों में बने उत्पाद खरीद ले तो स्कूल अपना खर्चा खुद निकाल सकते हैं। एक जगह वे इस बात पर जोर देते हैं कि बेसिक शिक्षा के प्रयोगों को कामयाब बनाने के लिए उन्हें स्वतंत्र रूप से चलाना होगा और उसमें कोई बाहरी दखल नहीं होना चाहिए। इन विरोधाभासों की चाहे जो व्याख्या की जाए मगर इसमें कोई संदेह नहीं कि राज्य और शिक्षा के सम्बन्धों का मसला आज भी उतना ही महत्वपूर्ण है और उसके बारे में हमें बहुत सावधानी से सोचने की जरूरत है।

सम्मेलन में लिए गए अन्य प्रस्तावों पर विवाद की इतनी गुंजाइश नहीं हैं। दूसरे प्रस्ताव के संदर्भ में जे.बी.कृपलानी ने तुरंत इस बात की ओर इशारा किया कि बेसिक शिक्षा में शिक्षा का वास्तविक माध्यम काम है, भाषा नहीं। मातृभाषा तो सिर्फ संचार का माध्यम है, वह शिक्षा का माध्यम नहीं है। जो लोग स्कूलों के लिए विस्तृत योजना तैयार कर रहे थे उन्हें यह बात जल्द ही समझ में आ गई कि न केवल किसी हस्तकौशल के वैज्ञानिक पक्ष में शिक्षा के वास्तविक संसाधन और स्रोत छुपे होते हैं बल्कि एक बच्चे के प्राकृतिक वातावरण और उन सामाजिक संबंधों में भी शिक्षा के समृद्ध संसाधन निहित होते हैं, जिनसे वह जुड़ा होता है।

इन क्रांतिकारी स्कूलों के लिए सबसे पहली जरूरत यह थी कि उनके लिए शिक्षकों को प्रशिक्षित किया जाए। इसके लिए हिंदुस्तानी तालीमी संघ ने अप्रैल 1938 में वर्धा में एक ट्रेनिंग स्कूल खोला जिसका निदेशक आर्यनायकम को बनाया गया। फिर इस प्रशिक्षण स्कूल के तहत सेगांव (सेवाग्राम) में एक स्कूल खोला गया। सेगांव मध्य प्रांत का हिस्सा था, जहां कांग्रेस की सरकार थी। इस काम को कांग्रेस का पूरा समर्थन प्राप्त था। गांधीजी के इस नए प्रयोग को शुरू करने के लिए गांव का पुराना स्कूल बंद कर दिया गया।

सेगांव ग्राम स्कूल और वर्धा प्रशिक्षण स्कूल, ये ही दो स्कूल थे, जिन्होंने दिसंबर 1938 में मेरी पहली यात्रा में मुझे इतना अभिभूत कर दिया था। पूरा वातावरण उत्साह और कुछ नया करने व खोजने की प्रेरणा से भरा हुआ था। प्रशिक्षण स्कूल के तहत वर्धा में ही एक प्रायोगिक स्कूल भी था। वहां जुलाई से सितंबर 1938 के बीच सात और आठ साल के बच्चों ने हस्तकौशल का जो भी काम किया, उसका पूरा रिकॉर्ड रखा जा रहा था। जिन हस्तकौशलों को चुना गया था, उनमें कपड़े की बुनाई शामिल थी जिसकी शुरुआत तकली पर कताई से होती थी। परंतु आने वाले सालों में कपास उगाने से लेकर

उसकी छंटाई, सुखाना, रेशों की रंगाई और तैयार कपड़े पर डिजाइनिंग आदि उसके सारे पहलुओं का समावेश किया जाना था। शुरुआती तीन महीनों में तकली ही काम के केंद्र में रही। पहले यह माना जा रहा था कि बच्चे इस काम से ऊब जाएंगे और यह उन पर बोझ बन जाएगा, लेकिन इसके ठीक विपरीत उन्होंने तो इसे एक दिलचस्प खिलौने के रूप में लिया और शुरुआती तीन महीनों के दौरान उत्पादन में अभूतपूर्व इजाफा दिखाई दिया। जुलाई में केवल 74 लच्छे सूत काता गया था। जबकि सितंबर में 251 लच्छे तैयार हुए। सितंबर के अंत तक कुछ बच्चे 39 गणनांक की बारीकी तक सूत कातने लगे थे जबकि औसत गुणवत्ता 13 गणनांक की थी जो काफी ठीकठाक मानी जाती है। सबसे कम रफ्तार एक घंटे में 100 फुट सूत की थी जबकि अधिकतम रफ्तार से काम करने वाला बच्चा 500 फुट से भी ज्यादा सूत कात लेता था। फिर भी, औसत आंकड़ा 250 फुट सूत प्रति घंटा था। गौर करने वाली बात है कि इन बच्चों को विशिष्ट तौर पर चुना नहीं गया था। परंतु उनके नतीजों को ज़ाकिर हुसैन कमेटी द्वारा बनाए गए पाठ्यक्रम में उल्लेखित उत्पादन मानकों को जांचने में इस्तेमाल किया गया।

दूसरे क्षेत्रों में भी सेगांव के इस स्कूल ने बड़ी उपलब्धियां हासिल की थीं। जब काम शुरू किया गया था, उस वक्त गांव का तकरीबन हर बच्चा जुआ खेलता था, जातीय संकीर्णता अपने चरम पर थी और व्यक्तिगत स्वच्छता या वातावरण की साफ–सफाई को लेकर कोई संवेदनशीलता नहीं थी। कुछ ही माह बाद बच्चों में मित्रता और सहयोग की भावना दिखाई देने लगी। एक सादे लेकिन साफ–सुथरे स्कूल में बच्चे अपने काम में काफी सक्रिय दिखाई दिए। वे अपने साथियों और शिक्षकों के साथ मिल कर इस माहौल को अच्छा बनाए रखने में हमेशा तत्पर थे। उनके पास बाहरी दुनिया के बारे में जानने की भारी जिज्ञासा थी।

इस काम को पूरे भारत में फैलाने के लिए काफी प्रयास किए जा रहे थे। सांगठनिक स्तर पर शहरों की बजाए गांवों में ऐसे स्कूल खोलने की योजना बनाई गई और शिक्षकों की उपलब्धता के आधार पर शहरों के इर्द–गिर्द स्कूलों का एक तंत्र विकसित करने का फैसला लिया गया, जिससे किसी भी शिक्षक को अकेलापन या अलगाव महसूस न हो बल्कि उन्हें अपने आस पास एक विस्तृत समूह के होने का बोध मिले। इस योजना को तमाम प्रांतीय सरकारों ने अपने–अपने स्तर पर लागू किया– बिहार, बॉम्बे, मध्य प्रांत, मद्रास, उड़ीसा, संयुक्त प्रांत और कश्मीर। केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने इस प्रयोग को एक वैध मॉडल के तौर पर मंजूरी दे दी। तालीमी संघ ने गांधीजी के इस प्रस्ताव को मान लिया कि एक कक्षा में छात्रों की अधिकतम संख्या 25 या हद से हद 30 तक हो सकती है; यह किसी भी स्कूल के लिए काफी अनिवार्य बाध्यता है, हालांकि इसका पालन नहीं किया जाता। शिक्षकों को पर्याप्त वेतन दिया जाए और स्कूल को हस्तकौशल से होने वाली आय तथा उसके शिक्षकों की तनख्वाह के बीच कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होना चाहिए।

जहां तक शिक्षा की विषयवस्तु का सवाल था तो बुनियादी हस्तकौशल के चुनाव को लेकर काफी सोच–विचार किया गया। तलाश एक ऐसे कौशल की थी जिसमें व्यापक शैक्षणिक संभावनाएं हों और जिसमें मिल–जुल कर काम किया जा सके, उसमें काम की योजना और क्रियान्वयन को उपयुक्त स्थान मिले, बच्चों की पहलकदमी के लिए पर्याप्त स्वतंत्रता हो तथा बच्चे अपने विकास की खुद जिम्मेदारी लें। जैसे–जैसे वक्त बीतता गया इस बात पर सहमति बनती गई कि बच्चों के लिए वे ही हस्तकौशल बेहतर होंगे जो मानवीय आवश्यकताओं से जुड़े हुए हों –

जैसे खाने पीने की चीजें व कपड़े बनाना, रोजाना के जीवन में जरूरी बरतन और आवास मुहैया कराने के लिए मिट्टी और लकड़ी से जुड़े काम आदि।

इस बुनियादी हस्तकौशल के अलावा कमेटी का जोर इस बात पर भी था कि हरेक स्कूल में संगीत और चित्रकला को भी नियमित पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाया जाए। आर्यनायकम ने इस काम के लिए शांतिनिकेतन के अपने अनुभवों का सहारा लिया और पाठ्यक्रम तैयार करने के लिए अपने मित्र महान कलाकार नंदलाल बोस से मदद ली। 1939 के बसंत तक इस बात की जरूरत महसूस होने लगी थी कि इस काम की प्रगति का जायजा लेने के लिए राष्ट्रीय स्तर की एक बैठक बुलाई जाए ताकि आगे की योजना बनाई जा सके। इस वक्त तक नौ प्रांतों और राज्यों में 247 बेसिक स्कूल और 14 प्रशिक्षण स्कूल कायम किए जा चुके थे। इस कार्यक्रम में बम्बई सरकार काफी सक्रिय थी और उन्होंने पुणे में कार्यकर्ताओं की बैठक का आयोजन किया। यह अक्टूबर 1939 की बात है। द्वितीय विश्व युद्ध शुरू हो चुका था और राजनीतिक हालात काफी अनिश्चित थे। बहरहाल, सम्मेलन में तय किया गया कि भविष्य में चाहे जो हो, बेसिक शिक्षा को रोका नहीं जा सकता। सम्मेलन के प्रस्ताव में कहा गया था कि न्याय, सहकारिता, उत्पादनशील श्रम और वैयक्तिकता के प्रति सम्मान पर आधारित शिक्षा की नई विचारधारा ही शांति, न्याय और मानवता का आश्वासन दे सकती है। चाहे कैसे भी राजनीतिक बदलाव आएं, इसे जारी रखना ही होगा। इस प्रयोग को शुरू हुए एक साल से कुछ ही ज्यादा हुआ था, लेकिन बच्चों के शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक विकास के बारे में जो रिपोर्टें आ रही थीं, वे काफी प्रोत्साहित करने वाली थीं। इसे जारी रखने का फैसला बिल्कुल सही साबित हुआ और कांग्रेस सरकारों के इस्तीफे से भी इस अभियान पर बहुत ज्यादा फर्क नहीं पड़ा, सिवाय मद्रास के, जहां कोयम्बटूर के बेसिक ट्रेनिंग स्कूल को अप्रैल 1940 में बंद करना पड़ा।

डेढ़ साल बाद डॉ. ज़ाकिर हुसैन के न्यौते पर अप्रैल 1941 में दिल्ली के जामिया नगर में बेसिक शिक्षा पर दूसरा राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया गया। बेसिक शिक्षा सम्मेलन में शिरकत का यह लेखिका का पहला अनुभव था, जो अभूतपूर्व साबित हुआ। 1939 के सम्मेलन में, मैं शांतिनिकेतन में अपने नए–नए काम को छोड़ कर पुणे की लंबी यात्रा पर नहीं जा सकती थी।

1941 की इस बैठक का एक महत्वपूर्ण पहलू यह था कि शिक्षा में कलाओं के विषय पर खूब समय दिया गया और इस सवाल पर बेहद गंभीर चर्चा चली। वक्ताओं का कहना था कि कला को महज अतिरिक्त विषय या विलासिता के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। हाथ से जो भी उपयोगी और सुंदर काम किए जा सकते हैं, उन्हें कला के क्षेत्र में रखा जाना चाहिए। कपड़ों के डिजाइन, रंगों, पैटर्न, बर्तनों और मकानों के निर्माण, अल्पना, प्रकाश, संगीत, नृत्य के माध्यम से त्यौहारों के आयोजन, खूबसूरत किताबों की छपाई तथा बच्चों के खिलौनों जैसी तमाम चीजों में कलात्मक अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। इस तरह हस्तकौशल और कलाएं वास्तव में एक ही प्रक्रिया के दो पहलू हैं।

इस सम्मेलन में डॉ. ज़ाकिर हुसैन ने भी शिक्षा में श्रम के महत्व पर काफी विचारोत्तेजक भाषण दिया। उन्होंने कहा, काम के अपने आदर्श होते हैं। यह कोई मनोरंजन या खेल नहीं है, यह एक उद्देश्य से संचालित गतिविधि है। काम में उस उद्देश्य के प्रति न्याय की एक इच्छा निहित होनी चाहिए, और सामग्रियों, विधियों व औजारों के प्राकृतिक अनुशासन का सम्मान करना चाहिए।

यह एक निर्मम आत्मालोचन की मांग करता है। परंतु इसमें जो आनंद मिलता है, उसका कोई जोड़ नहीं होता।

काम को शरीर और मस्तिष्क के लिए शिक्षाप्रद बनाने के लिए जरूरी है कि वह नियोजित हो और उसकी सामग्री व औजार तैयार हों। उसका क्रियान्वयन व मूल्यांकन भी समान रूप से महत्वपूर्ण होते हैं। इससे निपुणता में तो वृद्धि होगी लेकिन व्यक्तिगत निपुणता अपने आप में कोई साध्य नहीं है। यहां तक कि आत्मानुशासन के पीछे भी व्यक्ति का इरादा खालिस स्वार्थी हो सकता है। काम ऐसा होना चाहिए जो केवल निजी उद्देश्यों से उच्चतर मूल्यों को साकार करता हो, ऐसे मूल्य जिनका हम सम्मान करते हैं।

वर्क स्कूल एक ऐसा समुदाय है जो एक साझे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए काम करता है। श्रम के सहकारी मॉडल में किसी एक सदस्य की गलती दूसरों के सारे काम को बरबाद कर सकती है। इस तरह के काम में तेज काम करने वाला व्यक्ति, धीमा काम करने वाले व्यक्ति को पीछे नहीं छोड़ सकता। सहकारिता सदस्यों को सिखाती है कि वे अपनी–अपनी क्षमता और प्रवृत्तियों में असमानता के बावजूद किस प्रकार एक–दूसरे का सहयोग कर सकते हैं, यह उन्हें अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों को स्वीकार करना सिखाती है। लेकिन व्यक्ति की तरह स्कूल को भी अपने से बड़े किसी उद्देश्य के लिए काम करना चाहिए, नहीं तो वह भी व्यक्तिगत लोभ के स्थान पर केवल सामूहिक लोभ को ही स्थापित कर देगा। स्कूल के लघु समाज को अपने इर्द–गिर्द के व्यापक समाज की सेवा में योगदान देना चाहिए। ये शब्द आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने उस समय थे। ज़ाकिर हुसैन ने ये शब्द इस सम्मेलन के लिए गांधीजी द्वारा भेजे गए संदेश के बाद कहे थे। गांधीजी ने अपने संदेश में लिखा था : हमारे प्रयास की कामयाबी सरकार पर नहीं बल्कि खुद हम पर ज्यादा निर्भर करती है। हमारे प्रयोग की सघनता के लिए जरूरी है कि उसमें किसी तरह की कोई मिलावट और बाहरी दखल न हो। ज़ाकिर हुसैन ने इसी बात को प्रस्थान बिंदु बनाते हुए गांधीजी के संकल्पों को अपने शब्दों में प्रस्तुत किया और कहा कि तमाम राष्ट्रीय गतिविधियों की तरह हमारी शिक्षा भी अहिंसा पर ही आधारित होनी चाहिए ताकि हम एक अच्छा राज्य निर्मित कर सकें जहां सभी को न्याय व समान अवसर मिले।

उन्होंने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा कि हमारे समाज में आज भाई ही भाई के खिलाफ खड़ा है, जहां कोई ऐसा गीत नहीं जिसे सब मिलकर गा सकें और ऐसी कोई खुशी नहीं जो सबकी साझी हो। उन्होंने श्रोताओं का आह्वान किया कि वे एक ऐसे राज्य के लिए काम करे, जहां एक समुदाय दूसरे पर भरोसा कर सके जहां कमजोर व्यक्ति ताकतवर के आतंक तले न रहे, जहां गरीब को अमीर की उपेक्षा और अपमान न झेलना पड़े। एक ऐसा राज्य जहां एक साथ विभिन्न संस्कृतियां फले–फूलें और हरेक संस्कृति एक–दूसरे के अच्छे पहलुओं को अपनाएं जहां हरेक नागरिक अपने संसाधनों, व्यक्तित्व और सर्वश्रेष्ठ गुणों को समाज के लिए अर्पित करे और उसके काम आ सके। उन्होंने कहा कि संभव है ऐसा श्रेष्ठ राज्य अभी एक दूर का सपना हो, लेकिन राष्ट्रीय बेसिक शिक्षा का कर्त्तव्य यही है कि वह अभी से इस दिशा में प्रयास करे। यदि हमने आज ही शुरू नहीं किया, तो वक्त आने पर हम अनुभव और ज्ञान के अभाव में एक अच्छे राज्य की रचना के कार्यभार को पूरा नहीं कर पाएंगे। इस दिशा में वर्क स्कूल मार्गदर्शन कर सकता है, क्योंकि सबसे बेहतर और व्यवस्थित राज्य में भी नई खोज और प्रयोग की संभावनाएं बनी रहती हैं।

इस दौरान इन बुनियादी सिद्धांतों पर चले संवाद के अलावा विभिन्न संस्थानों और समूहों के बीच अनुभवों का भी आदान–प्रदान चल रहा था। बहुत सारे लोग अपने कामों में तरह–तरह की आशंकाओं से जूझ रहे थे। अमीर क्रांति से डरते थे, तो गरीबों को डर था कि कहीं उनके बच्चे भेड़–बकरी चराना न छोड़ दें। कई लोगों को गांधीजी द्वारा अस्पृश्यता की मुखालफत पसंद नहीं थी। कुछ ने साम्प्रदायिक आशंका के माहौल में विपक्ष की भूमिका पकड़ ली और कहने लगे कि यह योजना तो एक हिंदू द्वारा लाई गई है। स्थानीय स्तर पर इस किस्म के संदेहों को धीरे–धीरे शांत कर लिया गया। माता–पिता इस बात को समझने लगे कि इस शिक्षा से बच्चों का शारीरिक और मानसिक विकास हो रहा है और वे धीरे–धीरे इसको मंजूर करने लगे। बेसिक स्कूलों में बच्चों द्वारा किए गए प्रयासों की उत्साहजनक रिपोर्टें सामने आने लगीं। कई जगह उन्होंने क्रीड़ा केन्द्र, स्कूल में बगीचे, विद्यालयी दुकानें और बचत बैंक आदि शुरू किए थे। कई बच्चों ने स्कूल में सीखे गए हस्तकौशल का इस्तेमाल अपने घर की आय बढ़ाने के लिए भी किया। कुछ ऐसे सवाल भी उठाए गए जो आने वाले वर्षों में सेगांव; जिसे अब सेवाग्राम कहा जाता है और अन्य स्थानों पर बार–बार कार्यकर्ताओं के सामने आने वाले थे। एक मसला ये था कि बच्चों द्वारा तैयार किए गए सूत का क्या किया जाए। गांधीजी का हवाला देते हुए बेसिक शिक्षा कार्यकर्ताओं का कहना था कि इसकी जिम्मेदारी सरकार को लेनी चाहिए। लेकिन सरकारें उसका जिम्मा लेने को तैयार नहीं थीं क्योंकि अफसरशाही की राय में बाजार में इस माल की मांग नहीं थी। शिक्षक भी नौसिखिए ही थे इसलिए समझ नहीं पाते थे कि बच्चों द्वारा बुने गए सूत का क्या करें। वे उसका इस्तेमाल आसन, कूदने की रस्सी या ब्लैकबोर्ड पोंछने वाले डस्टर जैसी चीजें बनाने में ही कर पाते थे। कई शिक्षक सूत कातने के काम को केवल एक प्रतीकात्मक गतिविधि मानते थे क्योंकि वे आजादी की लड़ाई में सूत कातने के महत्त्व से परिचित थे। वे इस बात से अवगत नहीं थे कि यदि कपड़ा बुनने के काम से इसे अलग कर दिया जाता है, तो यह निरर्थक और उद्देश्यहीन उद्यम हो जाता है।

इसी से जुड़ा मुद्दा शिक्षकों के प्रशिक्षण का था। 1941 के सम्मेलन में यह सवाल उठाया गया था कि ट्रेनिंग स्कूलों में सामान्य विषयों के लिए अलग और हस्तकौशल के लिए अलग शिक्षक रखना वास्तव में बेसिक शिक्षा के सिद्धांतों के अनुकूल होगा या नहीं? इसका जवाब स्पष्टतः नहीं में था। तो फिर इसका विकल्प क्या हो? क्या प्रशिक्षण स्कूल में प्रवेश के लिए मैट्रिक की योग्यता की मांग बंद कर दी जाए और यह शर्त रखी जाए कि यहां आने के लिए उम्मीदवार ने हस्तकौशल के माध्यम से कम से कम दो–तीन साल तक अपनी आजीविका अर्जित की हो? हो सकता है कि कोई कारीगर अपनी कला के वैज्ञानिक आधार या सांस्कृतिक जड़ों से उतना परिचित न हो, लेकिन कम से कम उसने अपनी कला में एक दक्षता तो हासिल कर ही ली होगी। ऐसे में जरूरत बस उसे व्यापक सामान्य ज्ञान देने की होगी। दरअसल, प्रशिक्षण के लिए उम्मीदवारों का मैट्रिक पास होना इसी प्रस्थापना पर आधारित था कि उनके पास यह सामान्य ज्ञान पहले से होगा, हालांकि इस कसौटी पर वे कभी–कभार ही खरे उतरते थे। यह द्वंद्व आगे भी जारी रहा। अन्य जगहों की तरह सेवाग्राम में भी कई शिक्षक ऐसे थे जिन्हें हस्तकौशल में सीमित या विस्तृत महारत हासिल थी परंतु प्रायः वे ऐसे नहीं थे जो इसके माध्यम से अपनी आजीविका चला सकते। विडंबना ये थी कि इसके बावजूद छात्रों से उम्मीद की जाती थी कि वे अपने पाठ्यक्रम के अंत तक खुद ऐसा करने में सक्षम हो जाएंगे।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि 1941 में

किताबों की जरूरत पर काफी चर्चा हो रही थी। शिक्षकों को किताबों की जरूरत थी ताकि वे हस्तकौशल के माध्यम से मानवीय ज्ञान और अनुभव के विभिन्न पहलुओं में अपने छात्रों की दिलचस्पी पैदा कर सकें। दूसरी ओर छात्रों को ऐसी किताबों की जरूरत थी जो उनकी दिलचस्पी और जिज्ञासा की प्यास बुझा सके। दोनों को ही सामान्य तकनीकी और संदर्भ पुस्तकों की जरूरत थी। दोनों पक्ष पारंपरिक स्कूलों के उस संकीर्ण परिदृश्य को पार कर जाना चाहते थे, जहां की किताबें एक पाठ्यक्रम के दायरे में बंधी हुई थीं। तालीमी संघ के नेताओं का कहना था, किताबें तो हैं, लेकिन जीवन और सक्रियता के विकल्प के तौर पर नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जीवन और ज्यादा प्रभावशाली सक्रियता के लिए एक सहायक की भूमिका में हैं। एक अच्छा बेसिक स्कूल ऐसा होना चाहिए जो बच्चों को खोज के लिए किताबों तक ले जाए जहां उसे सुख मिले। ये दोनों ही ध्रुव पाठ्य–पुस्तक की मानसिकता से अलग हैं और वहां नहीं पाए जाते। यह एक ऐसा बिंदु था जिस पर सेवाग्राम समुदाय थोड़ी–बहुत ठोस कामयाबी का कुछ दावा कर सकता है। जैसे–जैसे यह समुदाय विकसित होता गया उसने एक पुस्तकालय बना लिया जहां शिक्षक और छात्र समान अधिकार से जाकर पढ़ाई कर सकते थे। बाद में मुझे भी इस पुस्तकालय को संभालने का मौका मिला और मुझे अब भी याद है कि कैसे तीन–चार साल के बच्चे पुस्तकालय में रीडर कार्ड मांगने आते थे और जमीन पर बैठकर तस्वीरों वाली किताबें पढ़–पढ़ कर खुश होते थे। ये किताबें उनकी आसानी के लिए एक नीचे के शेल्फ पर रखी गई थीं। मुझे अब भी याद है कि कुछ किशोर लड़के–लड़कियां जो अभी पढ़ने की शुरुआत ही कर रहे थे, वे खुद–ब–खुद अंग्रेजी के शब्द बुदबुदाते रहते थे। हमारे पास बागवानी के व्यावहारिक पहलुओं के बारे में कुछ अंग्रेजी की खूबसूरत चित्रों वाली पुस्तकें भी थीं। बच्चे जमीन पर बैठ कर इन किताबों से एक तरह से कुश्ती लड़ते और यह देखकर काफी सुख मिलता था कि आखिर उन्होंने इन पुस्तकों से कितना कुछ सीख लिया है, न सिर्फ विचारों के स्तर पर, बल्कि उस आत्मविश्वास के मामले में भी जो मुश्किलों पर विजय पाने से मिलता है।

शिक्षक प्रशिक्षण कक्षाओं के वयस्क छात्र अब तक केवल ऐसे पुस्तकालय से ही परिचित थे, जहां किताबें अलमारियों में बंद रहती हैं। उनके लिए यह पुस्तकालय हैरानी का सबब था, क्योंकि यहां वे बेरोकटोक, जो चाहे किताब उठा कर पढ़ सकते थे। यह पुस्तकालय उनके लिए एक ऐसा स्थान था, जो साझा हित के लिए, साझा नियमों के आधार पर चलाया जा रहा था। इस पुस्तकालय में छात्रों की खोजी भावना और आनंद दोनों के दर्शन होते थे। 1941 का सम्मेलन बेहद जीवंत और उम्मीदों से भरपूर था। इस सम्मेलन ने आने वाले वर्षों के लिए एक ठोस और सतत विकास की मनोवैज्ञानिक तैयारी कर दी थी। लेकिन राजनीतिक उथल–पुथल के कारण तमाम अन्य घटनाएं इस पर भारी पड़ गईं। कोई भी युद्धरत सरकार ऐसे व्यक्तियों या गतिविधियों के बारे में सदा सशंकित रहती है जो एक अलग राह पर चलने की कोशिश करते हैं और सरकार को पारंपरिक ढंग से समर्थन नहीं देते।

भारत की तत्कालीन अंग्रेज सरकार की मनोदशा भी ऐसी ही थी। बेसिक शिक्षा आंदोलन के नेता गांधीजी और कांग्रेस से इतने गहरे तौर पर जुड़े हुए कि इस किस्म के संदेह से नहीं बच सकते थे। सम्मेलन के पहले ही उड़ीसा सरकार अपना बेसिक शिक्षा विभाग बंद कर चुकी थी। सरकार को कहना था कि इसे जारी रखना राज्य के हित में नहीं होगा। जाहिर है, यह शैक्षणिक फैसला नहीं था, यह खालिस

राजनीतिक फैसला था। इसके बावजूद उड़ीसा में बेसिक शिक्षा का आंदोलन खत्म नहीं हुआ। बेसिक शिक्षा प्रयोग को जारी रखने के लिए गोपाबंधु चौधरी और उनकी पत्नी रमा देवी की प्रेरणा से एक स्वतंत्र समिति का गठन कर दिया गया। असली संकट 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन से पैदा हुआ। अब तक वर्धा में चलाया जा रहा शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम अगस्त की शुरुआत में सेवाग्राम में चालू कर दिया गया था। उसी समय वहां आनन्द निकेतन बेसिक आवासीय विद्यालय भी खोला गया ताकि ऐसे राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं के बच्चों को वहां रखा जा सके जिनके माता–पिता के ऊपर गिरफ्तारी की तलवार लटक रही थी। कुछ ही दिनों बाद हिंदुस्तानी तालीमी संघ के 21 में से 15 सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तार किए गए लोगों में संस्था के सचिव ई. डब्ल्यू. आर्यनायकम भी शामिल थे। सेवाग्राम का ग्रामीण स्कूल बंद तो नहीं हुआ मगर उसकी परेशानियां लगातार बढ़ती जा रही थीं।

उन दिनों इसी स्कूल में पढ़ने वाले आत्माराम बताते हैं कि कैसे वह और अन्य बच्चे वर्धा की जेल में बंद अपने शिक्षकों के पास कपास, तकली और किताबें लेकर पढ़ने जाते थे। सभी एक–दूसरे से कटे हुए थे। देश भर में फैले बेसिक शिक्षा केन्द्र एक–दूसरे से सम्पर्क नहीं रख पा रहे थे। 1941 में जो आत्मविश्वास दिख रहा था, उसकी जगह अब अस्तित्व रक्षा के एक निराश और एकाकी संघर्ष ने ले ली थी। अगले दो साल बड़े अंधकारमय थे मगर जल्दी ही एक नया सवेरा होने वाला था।

साभार : नई तालीम की कहानी से।
मॉर्जरी सॉइक्स, (1988), नई तालीम की कहानी, **अनुवाद** : श्री प्रकाश, क्षेत्रीय प्रारंभिक शिक्षा संसाधन केंद्र, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

■ सरोकार

जीवन के लिए जीवन के माध्यम से शिक्षा

देवी प्रसाद

अब तक, हमने औपनिवेशिक राज के दौरान भारत की शिक्षा के बारे में यह जाना कि क्यों भारत के शिक्षा नियोजक, औपनिवेशिक शासकों द्वारा हमारी परंपराओं एवं संस्थाओं को ध्वस्त करके सौंपी गई शिक्षा पद्धति से छुटकारा पाना जरूरी समझते थे। स्वतंत्रता आंदोलन के समय सामाजिक सुधारों को देखने का क्या नजरिया था और उपनिवेशकर्ताओं का एशियाई देशों के साहित्य के बारे में क्या सोच थी, इसका भी हमें पता चला। गांधीजी के द्वारा दक्षिण अफ्रीका व भारत में किए गए शिक्षा से संबंधित प्रयोगों पर चर्चा करते हुए उनकी आत्मकथा के माध्यम से जाना कि वे देश में किस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था चाहते थे। इसके साथ ही गांधीजी द्वारा बनाई गई राष्ट्रीय विद्यालय की योजना तथा उसके मूलभूत सिद्धांतों के बारे में पढ़ा। अब इसके आगे...

नई तालीम

देश में 1920 से 1937 के बीच बहुत कुछ घटित हुआ। लोगों में अपनी सांस्कृतिक नींव के बारे में चेतना जागृत होना, लोगों में अंग्रेजों द्वारा इसको किए गए नुकसान की जानकारी, और देश की सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों की समझ के कारण यह आवश्यक हो गया कि– एक स्वस्थ और मजबूत भारत के निर्माण के लिए जनशिक्षा तथा व्यक्ति की शिक्षा व इसके साथ स्वतंत्रता आन्दोलन आवश्यक तत्व है। गांधीजी भी इस बात में विश्वास रखते थे कि आजादी प्राप्त किए बिना नई शिक्षा का कार्यक्रम बनाना संभव नहीं होगा।

शांतिनिकेतन व विद्यापीठों को छोड़कर पुनर्जागरण से संबंधित अधिकांश संस्थाएं उनकी मूल सार्थकता खो चुकी थीं या फिर सरकारी मान्यता पर निर्भर थीं। कुछ अभिजात्य वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति कर रही थीं, जो सरकारी सहायता की आस लगाए थीं। टैगोर ने शांतिनिकेतन को जानबूझकर अराजनीतिक बनाए रखा था। वहां के कुछ लोग अवश्य स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेते थे। बिना इन मुद्दों के क्यों के सवाल में जाएं, मैं टैगोर के शिक्षा के संप्रत्यय और गांधीजी के मार्गदर्शन में विकसित नई तालीम के बीच संबंध को देखने का प्रयास करूंगा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, टैगोर की शिक्षा योजना के तीन केंद्र बिंदु हैं : मातृभाषा, न केवल शिक्षा के माध्यम के रूप में बल्कि लोगों के बीच प्रमुख संचार के माध्यम के रूप में भी; सृजनात्मक प्रवृत्तियां और प्रकृति जिसके हम अविभाज्य अंग हैं।

गांधीजी ने 1937 में जो योजना देश के सामने प्रस्तुत की उसके भी इसी प्रकार के तीन प्रमुख तत्व थे। वे इस बात पर पूरा विश्वास करते थे कि विद्यालयों व कॉलेजों में शिक्षा का माध्यम मातृभाषा या उस क्षेत्र की भाषा होनी चाहिए। वे इस बात

पर भी जोर देते थे कि विभिन्न क्षेत्रों के लोगों के बीच संचार की भाषा वही हो जो अधिकांश लोग समझते हों व आसानी से सीख सकते हों। दूसरे शब्दों में यह समुदाय के बीच संबंधों का सशक्त साधन हो। मानव समाज अपनी अधिकांश आवश्यकताओं के लिए प्रकृति पर निर्भर रहता है। गांधीजी द्वारा प्रतिपादित 'नई तालीम' में भी प्रकृति के साथ अपने संबंध को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई है। टैगोर के अनुसार प्रकृति ज्ञान, मानव सृजनात्मकता व आजीविका का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

तीसरा तत्व गांधीजी के अनुसार श्रमकार्य व टैगोर के अनुसार सृजनात्मक प्रवृत्तियां हैं। इन दो विचारधाराओं में बहुत अन्तर नहीं है। टैगोर सृजनात्मक प्रवृत्तियों के आर्थिक पक्ष पर बल नहीं देते। उनके लिए यह कला है जो मानव की सभी आवश्यकताओं भौतिक, संवेगात्मक व आध्यात्मिक, की पूर्ति करती है। गांधीजी का आग्रह उद्योग पर था जो कि आजीविका के लिए व ज्ञान अर्जित करने के साधन के रूप में महत्त्वपूर्ण है।

मुझे नहीं लगता कि दोनों के बीच कोई बहुत बड़ा अंतर है। गांधीजी की विचार धारा जहां निश्चित रूप से बहुलतावादी है, टैगोर की अभिजात्य वर्ग की प्रतीत होती है। कालावधि के कारक को ध्यान में रखें तो गांधीजी को गुरुदेव के शैक्षिक अनुभवों का लाभ मिला। उन्होंने इनसे न केवल कुछ सीखा बल्कि उसमें सुधार भी किए।

बुनियादी शिक्षा का सात प्रांतों में प्रारम्भ

गांधीजी ने जो फल संजोया था वह दो दशकों में अब पक गया था। भारत की राजनीतिक स्थिति में बदलाव आया था। विधानसभा के चुनावों के बाद ब्रिटिश सरकार को सात प्रांतों में कांग्रेस की सरकारें बनाना स्वीकार करना पड़ा। ये कांग्रेस सरकारें और जो भी कुछ करने की आशा रखती हों, गांधीजी ने उन्हें वर्तमान शिक्षा प्रणाली को बदलकर एक नई शिक्षा की योजना दी।

उन्होंने 31–7–1937 के 'हरिजन' के अंक में एक लेख लिखा 'शिक्षा' शीर्षक से।

शिक्षा की समस्या कैसे सुलझाएं यह प्रश्न दुर्भाग्य से शराब से प्राप्त आय गायब हो जाने के प्रश्न के साथ मिला दिया गया है। उस समय तक शिक्षा के लिए धन शराब पर ली जा रही आबकारी से आता था। गांधीजी ने लिखा :

'हम शिक्षा में इतने पिछड़े हैं कि हम हमारी राष्ट्र के प्रति जिम्मेदारी इस पीढ़ी में नहीं निभा पाएंगे यदि कार्यक्रम धन पर निर्भर होगा। इसलिए मैंने बहुत साहसी सुझाव दिया है शिक्षा को आत्मनिर्भर बनाने का, इसमें यह खतरा मोल लेते हुए कि मेरी सृजनात्मक क्षमता की साख गिर जाए। शिक्षा से मेरा अर्थ है बच्चे व व्यक्ति में छिपी सर्वांगीण क्षमताएं बाहर लाना। शरीर, मन व आत्मा से संबंधित।'

उन्होंने सुझाव दिया कि शिक्षा के लिए धन अमीरों पर कर लगाकर इकट्ठा किया जा सकता है।

यह कोई काल्पनिक तस्वीर नहीं है। यदि हम हमारे दिमागी आलस्य को त्याग दें, तो हमें नजर आएगा कि यह एक बहुत ही समझदारीपूर्ण एवं व्यावहारिक सुझाव है, उस शैक्षिक समस्या का जिसका कांग्रेस के मंत्रियों को व इसलिए कांग्रेस को सामना करना पड़ रहा है।

गांधीजी ने 1937 में एक सम्मेलन आयोजित किया। जिसमें देश के जानेमाने शिक्षाविद तथा कई प्रान्तों के शिक्षा मंत्रियों ने भाग लिया। उन्होंने अपनी योजना उनके सामने रखी। सम्मेलन ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसके अन्तर्गत यह तय किया गया कि प्रत्येक बच्चे को 6 से 14 वर्ष तक निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की सुविधा प्रदान की जाए, पढ़ाने

का माध्यम मातृभाषा हो। इस अवधि में सम्पूर्ण शिक्षा श्रम द्वारा किए जाने वाले उत्पादक कार्य को केंद्र में रखकर आयोजित की जानी चाहिए और अन्य सभी कौशल जो विकसित किए जाने हैं, वे केंद्रीय हस्तकला के साथ समन्वित कर विकसित किए जाने चाहिए। बच्चे के वातावरण को उचित सम्मान दिया जाए, तो यह शिक्षा पद्धति शिक्षकों के वेतन का भार शनैः शनैः उठा लेगी।

कुछ समय बाद एक अखिल भारतीय संगठन 'हिंदुस्तानी तालीम संघ' की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य बुनियादी शिक्षा को पूरे देश में फैलाना व कुछ प्रायोगिक विद्यालय स्थापित करना था। इस प्रकार का प्रथम विद्यालय गांधीजी के आश्रम सेवाग्राम में स्थापित हुआ। यह हिंदुस्तानी तालीम संघ का केंद्र बना जिसमें श्री ई.डब्ल्यू. आर्यनायकम महामंत्री बने व गांधीजी ने जामिया मिलिया इस्लामिया के प्रमुख डॉ. ज़ाकिर हुसैन को संघ का अध्यक्ष चुना।

ऐसा लगा कि पूरे देश में शैक्षिक पुनर्संरचना की एक लहर दौड़ गई। कुछ राज्यों ने शैक्षिक पुनर्गठन की समितियां गठित कीं, शिक्षक प्रशिक्षण एवं रिफ्रेशर्स ट्रेनिंग सेंटर्स की स्थापना की। कुछ नए बुनियादी विद्यालयों की स्थापना की गई व कुछ प्राथमिक विद्यालयों को बुनियादी विद्यालयों में परिवर्तित किया गया। शिक्षकों के लिए बुनियादी शिक्षा पर साहित्य तैयार किया गया। अपने विषय के कुछ बहुत अनुभवी शिक्षकों द्वारा एक सात वर्षीय पाठ्यक्रम तैयार किया गया।

श्री आर्यनायकम ने अपनी द्विवर्षीय रिपोर्ट में लिखा कि :

'बुनियादी शिक्षा का कार्यक्रम' एक प्रयोग के रूप में कुछ राज्यों में चलाया जा रहा था, जैसे सी.पी., यू. पी., बिहार, उड़ीसा, बम्बई तथा कश्मीर। कुछ गैर सरकारी संस्थाओं में भी यह प्रयोग चलाया जा रहा था। कुल मिलाकर बारह शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय, दो शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, सात रिफ्रेशर्स ट्रेनिंग सेंटर तथा पांच हजार से अधिक विद्यालयों में बुनियादी शिक्षा का प्रयोग चलाया जा रहा था।' लोगों में इतना उत्साह था कि जब उड़ीसा सरकार ने दो वर्षों के प्रयोग के बाद बुनियादी विद्यालय बंद कर दिए तो लोगों ने अपने स्तर पर काम जारी रखा। पन्द्रह बुनियादी विद्यालयों में से सात चालू रहे। इससे यह सिद्ध होता है कि– इस पद्धति ने लोगों की रुचि को आकर्षित किया था।

दो वर्षों बाद कांग्रेस मंत्रियों ने इस्तीफे दे दिए। इसके परिणाम स्वरूप सातों प्रान्तों में सरकार द्वारा संचालित बुनियादी विद्यालय बन्द हो गए। परन्तु स्वयं सेवी संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालय 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन की शुरुआत तक चलते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि कई सक्रिय कार्यकर्ता गिरफ्तार हुए। इनमें वे भी शामिल थे जो गांधीजी के रचनात्मक कार्यों से जुड़े थे। गांधीजी सबसे पहले गिरफ्तार हुए।

जामिया मिलिया इस्लामिया के परिसर में आयोजित द्वितीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन द्वारा पारित प्रस्तावों से पता चलता है कि दो वर्षों की अल्प अवधि में बुनियादी विद्यालयों ने कितने अच्छे परिणाम प्राप्त किए।

यह सम्मेलन व्यक्त करता है कि सरकार, स्थानीय स्वशासन व निजी संस्थाओं द्वारा संचालित बुनियादी विद्यालयों के संबंध में जो प्रतिवेदन आए हैं, वे सर्वानुमति से यह स्वीकार करते हैं कि स्वास्थ्य, व्यवहार व बौद्धिक उपलब्धि के स्तर बहुत ही प्रोत्साहित करने वाले हैं। बुनियादी विद्यालयों के बच्चे अधिक सक्रिय, प्रसन्नचित, स्वावलंबी हैं व उनकी अभिव्यक्ति क्षमता पूर्ण विकसित है। उनमें मिलकर सहयोग के साथ कार्य करने की आदत का विकास हो रहा है और सामाजिक पूर्वाग्रह टूट

रहे हैं। किसी भी नई योजना की प्रारंभिक अवस्था में कठिनाइयां आना स्वाभाविक है; खासकर जब उस योजना में नई विचार धारा निहित हो तथा नई विधियां काम में ली जा रही हों। जो प्रगति का प्रतिवेदन प्रस्तुत किया गया है उससे यह आशा बनती है कि भविष्य में और भी अच्छे परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं।

नई तालीम का जन्म

भारत के लिए 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन ने बहुत महत्त्वपूर्ण अनुभव प्रदान किया, खासकर गांधीजी की अगुवाई में चलाए जा रहे स्वतंत्रता संग्राम की उपलब्धियों व कठिनाइयों की समीक्षा के संदर्भ में। कुछ ही दिनों में स्वतंत्रता आन्दोलन के अधिकांश कार्यकर्ता गिरफ्तार कर लिए गए। केवल वे ही बचे जो या तो भूमिगत हो गए थे या जिन्हें सरकारी तंत्र ने अपनी तरफ मिला लिया था, स्वेच्छा से या किसी और तरीके से। उन राजनैतिक पार्टियों के लोग, जो भारत छोड़ो आन्दोलन के पक्ष में नहीं थे, वे जेलों से बाहर रहे।

गांधीजी करीब दो वर्ष तक जेल में रहे। वह शायद उनके जीवन का सबसे कठिन समय था। उनके दो निकटस्थ सहयोगियों उनकी पत्नी कस्तूरबा और महादेव देसाई की उसी जेल में मृत्यु हो गई, जो उनके दाहिने हाथ थे। उन दिनों शायद उन्होंने अपने जीवन में जो किया या करना चाहते थे उसका पूर्ण रूप से आत्मनिरीक्षण किया होगा। उनकी एक शिक्षक के रूप में जीवन भर की तपस्या ने उन्हें यह प्रश्न पूछने पर मजबूर किया होगा कि वे अब तक सही रास्ता ढूंढ़ने में सफल क्यों नहीं हुए हैं, वह रास्ता जो वे दक्षिण अफ्रीका में अपने वृहत परिवार के बच्चों को पढ़ाते समय से खोज रहे हैं। उन्होंने अपने से कई प्रश्न किए होंगे जिनमें कुछ बुनियादी शिक्षा के प्रयोग से व इसके भविष्य से संबंधित भी होंगे।

जब वे जेल से बाहर आए तो उनकी दो प्रमुख चिन्ताएं थीं (क) कि ब्रिटिश साम्राज्य का भारत में शीघ्रातिशीघ्र अन्त हो तथा (ख) भारत के लोगों के लिए ऐसी शिक्षा व्यवस्था की योजना बनाना जो उन्हें मिली आजादी का उपयोग उन्हें उन परिस्थितियों से ऊपर उठने में तैयार कर सके, जिनमें उन्हें उपनिवेशवादी शासन के दौरान धकेला गया था। जैसे भयंकर गरीबी, निराशावाद, अज्ञान तथा असहायपन की अनुभूति।

विगत एक चौथाई शताब्दी तक गांधीजी ने आजादी की अहिंसक लड़ाई का नेतृत्व किया, राजनैतिक आर्थिक व सामाजिक स्तर पर। उन्होंने लोगों को जीवन के हर पहलू के लिए विकल्पों की खोज करने के लिए प्रोत्साहित किया।

वर्तमान व्यवस्थाओं और संस्थाओं को बदलने हेतु अठारह सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम बना। उदाहरण के तौर पर– स्थानीय उद्योगों का विकास– कपड़ा, गृहनिर्माण, खाद्य सामग्री, बुनियादी शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, सामाजिक समता तथा सामुदायिक जीवन।

जब कभी उनके पास कोई सुझाव आता और उन्हें लगता कि वह ध्यान देने योग्य है तो उस प्रवृत्ति की जिम्मेदारी लेने के लिए वे व्यक्ति ढूंढ़ लेते या कुछ लोग खुद उनके पास चले आते। इसका बहुत अच्छा उदाहरण कोढ़ अभियान का है। परम्परागत रूप से कोढ़ के बारे में बहुत गलत धारणाएं थीं। जिस किसी को यह बीमारी हो जाती उसे अछूत से भी नीचा समझा जाता था। गांधीजी सदैव इस प्रकार की परम्पराओं के विरुद्ध चिकित्सकीय स्तर पर तथा सामाजिक आर्थिक स्तर पर काम करते रहे। 1942 में एक व्यक्ति जो इस बीमारी से ठीक हो चुका था ने गांधीजी को अपनी कहानी सुनाई। मैंने उन्हें इस व्यक्ति को यह कहते सुना है : ''तुमको ईश्वर ने मेरे पास भेजा है, इस योजना के साथ कि तुम पूरे भारत में

कोढ़ के प्रति जो अमानवीय दृष्टिकोण है, उसके खिलाफ अभियान चलाओ।'' इससे उस व्यक्ति को इतनी प्रेरणा मिली कि उसने पूरे भारत में यह अभियान खड़ा किया। यह उस अठारह सूत्री कार्यक्रम का एक मुद्दा था।

गांधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम देश में वैकल्पिक तरीके व संस्थाएं उपलब्ध करवाने के उद्देश्य से चलाया गया था। उनको आशा थी कि एक बार भारत आजाद हो जाए, तो उसका एक जांचा परखा राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक ढांचा होगा, जिसके आधार पर देश का कामकाज अहिंसक तरीके से चलाया जा सकेगा।

गांधीजी का आग़ाखान पैलेस में बंदीकरण उनके आत्मचिंतन का समय था। जेल से बाहर आने पर उन्होंने कहा, ''मैं अपने बंदीवास के दौरान नई तालीम की संभावनाओं के बारे में सोचता रहा जब तक मेरा दिमाग बेचैन हो गया'' उन्होंने यह भी कहा, ''हमें हमारी वर्तमान उपलब्धियों से संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। हमें बच्चों के घरों में प्रवेश करना होगा। हमें उनके माता–पिताओं को शिक्षित करना होगा। बुनियादी शिक्षा वास्तव में जीवन की शिक्षा बननी चाहिए... मुझे यह स्पष्ट हो गया है कि बुनियादी शिक्षा का दायरा बढ़ाना चाहिए... बुनियादी विद्यालय के शिक्षक को अपने आप को सार्वभौमिक शिक्षक मानना चाहिए, उसका गांव उसकी दुनिया है...।''

जनवरी 1945 में 'नई तालीम' का एक सम्मेलन बुलाया गया। अपने उद्घाटन भाषण में गांधीजी ने इस पद्धति का एक बिलकुल संशोधित नक्शा पेश किया कार्यकर्ताओं को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा :

हालांकि हम नई तालीम पर विगत कुछ वर्षों से काम कर रहे हैं, परन्तु हम एक किनारे के पास के समुद्र में तैर रहे हैं जो कि तुलात्मक रूप से सुरक्षित है। हम अब उथले पानी को छोड़कर गहरे समुद्र में जा रहे हैं। अब तक हमारा रास्ता हमें मालूम था। अब हमारे सामने पानी में रास्ता हमें ज्ञात नहीं हैं। अब ध्रुव तारा ही हमारे लिए एक मेव मार्गदर्शक है और वह ध्रुव तारा है गांवों के हस्तशिल्प।

अब हमारा काम का क्षेत्र केवल 6 से 14 वर्ष के बच्चों की नई तालीम तक ही सीमित नहीं है इसे अब जीवन की पूरी यात्रा को अपने दायरे में लेना है, जन्म से मृत्यु के क्षण तक। इसका अर्थ अब हमारा काम बहुत बढ़ गया है जबकि कार्यकर्ता वही हैं। पर इससे हमें चिंतित नहीं होना चाहिए। हमारा साथी सत्य है और वह ईश्वर है। वह हमें कभी दगा नहीं देगा। पर सत्य हमारी सहायता तभी करेगा जब हम हर परिस्थिति में उसका साथ देंगे। इसमें पाखण्ड, छद्मकरण, गर्व, मोह या क्रोध का कोई स्थान नहीं है।

हमें ग्रामवासियों का शिक्षक बनना है। इसका अर्थ यह है कि हमें सही मायने में उनका सेवक बनना है। हमें यदि कोई पुरस्कार मिलना है तो वह अन्दर से मिलेगा बाहर से नहीं। हमें इसकी परवाह नहीं करनी चाहिए कि सत्य के रास्ते पर कोई इंसान हमारे साथ है या नहीं। ना ही नई तालीम किसी बाहरी वित्तीय सहायता पर निर्भर है। इसे अपने रास्ते पर चलाते रहना है इसके आलोचक कुछ भी कहें। मैं समझता हूं कि सच्ची शिक्षा आत्मनिर्भर होनी चाहिए। इसमें कोई शर्म की बात नहीं है।

यह एक बिल्कुल नया विचार होगा। यदि हम यह सिद्ध कर सकें कि दिमाग के विकास का हमारा तरीका ही एकमात्र तरीका है तो आज जो नई तालीम का विरोध कर रहे हैं कल वे ही हमारे प्रशंसक हो जाएंगे। और अंत में नई तालीम को दुनिया भर में स्वीकृति मिलेगी।

यह केवल एक स्वप्न है या वास्तविकता, यही नई तालीम का लक्ष्य है और इससे कम कुछ नहीं। सत्य का ईश्वर इस लक्ष्य की प्राप्ति में हमारी सहायता करे।

मैं आपका ध्यान एक और चीज की तरफ आकर्षित करना चाहता हूं। मैं सेवाग्राम केंद्र को नई तालीम के प्रयोग के लिए सबसे उपयुक्त स्थान मानता हूं, क्योंकि यहां चरखा संघ अपना मुख्य प्रयोग चला रहा है। वर्धा दूसरे ग्रामीण उद्योगों का भी केन्द्र है...। सेवाग्राम अकेला नहीं है; इसके आसपास करीब 20 गांव स्थित हैं। इसलिए, यदि नई तालीम का किसी वास्तविक माहौल में कहीं प्रयोग हो सकता है तो वह यहीं हो सकता है।

उन्होंने जो योजना रखी थी, वह समुदाय के हर एक के लिए थी। इसके प्रमुख भाग इस प्रकार थे :

(1) प्रौढ़ शिक्षा– पूरे समुदाय के लिए, शहर के बच्चों के माता–पिता के लिए भी।

(2) प्री–बेसिक (पूर्व बुनियादी शिक्षा) – ढाई साल से सात वर्ष के बच्चों के लिए।

(3) बेसिक एज्यूकेशन (बुनियादी शिक्षा) – सात से चौदह वर्ष के बच्चों के लिए।

(4) पोस्ट बेसिक एज्यूकेशन (उत्तर बुनियादी शिक्षा) – चौदह से अठारह वर्ष के बच्चों के लिए।

(5) विश्व–विद्यालयी शिक्षा – अठारह वर्ष से अधिक उम्र के बच्चों के लिए।

गांधीजी का सबसे महत्त्वपूर्ण बयान 'नई तालीम' की नई परिप्रेक्ष्य–योजना घोषित करने बाद आया। हर नए कार्यक्रम के लिए अनुस्थापन होना चाहिए। या दूसरे शब्दों में कहें तो वे सब प्रवृत्तियां 'नई तालीम' का हिस्सा ही मानी जानी चाहिए। या यों कहें भारत के पुनर्निर्माण हेतु चलाई जाने वाली हर प्रवृत्ति को शिक्षा से जोड़ना चाहिए।

सेवाग्राम में नई तालीम

कई संस्थाओं ने जो पहले बुनियादी शिक्षा से जुड़ी थीं उन्होंने पुनः काम करना प्रारम्भ कर दिया। इसका केंद्रीय स्थान सेवाग्राम था। देश भर में चल रहे नई तालीम के काम के लिए स्थापित एक आदर्श विद्यालय जो कि शिक्षक प्रशिक्षणार्थियों के लिये एक अभ्यास पाठ विद्यालय भी था उसमें मुझे छः माह के लिए एक कला अनुदेशक का कार्य मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मुझे छः माह के शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम में शिक्षकों को प्रशिक्षण देना था। यह बड़ा अजीब लगता है कि मैं सेवाग्राम में छः माह के स्थान पर नई तालीम के साथ अठारह वर्ष रहा। मैं 1944 में जब सेवाग्राम पहुंचा तो मैंने शिक्षकों और बच्चों के चेहरे पर उत्साह पाया। शिक्षक प्रशिक्षण शिविर में देश के सभी भागों से करीब 60 से अधिक शिक्षक आए थे। यह 25 से 50 वर्ष के बीच की उम्र के सक्रिय व कुशाग्र बुद्धि वाले शिक्षकों का समूह था।

प्रार्थना के बाद हम परिसर के हर स्थान का, जिसमें शौचालय भी शामिल थे सफाई में लग जाते थे। वास्तव में शौचालय साफ करना हमारी सर्वोच्च प्राथमिकता थी। भारत में यह बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यहां शौचालयों को साफ करना अछूतों का कार्य माना जाता है। मैंने जब नई तालीम के इस पहलू का अनुभव कि तो मुझे पेस्टोलोजी की वह बात याद आई जिसमें उन्होंने कहा था कि मैं उनके स्तर तक नीचे आ गया (गरीब व अशिक्षितों) ताकि मैं उन्हें अपने साथ ऊपर उठा सकूं। यह एक बहुत ही हृदय विदारक व ऊंचा उठाने वाला अनुभव था।

वास्तव में सेवाग्राम के विद्यालय के कर्मचारियों व अन्य लोगों ने स्वच्छता को एक विज्ञान व एक कला बना दिया था और इसकी तकनीक बहुत अच्छी तरह से विकसित कर ली थी। यह विद्यालय व समुदाय में एक अलग विषय बन गया था। उस पैंतालीस मिनट के सामुदायिक स्वच्छता कार्यक्रम के बाद हर व्यक्ति अपने काम में लग जाता– कुछ खेतों में काम करते जिनमें हम अपना अन्न, सब्जियां

व फल उगाते थे, अन्य लोग कताई बुनाई की कार्यशालाओं में काम करने, और अन्य लोग कुछ दूसरे कामों में लग जाते, जिसमें समुदाय के लिए भोजन बनाने का काम शामिल था। हम सब बारी–बारी से खाना बनाते थे। कार्यशालाओं की संख्या धीरे–धीरे समुदाय की आवश्यकताओं के अनुरूप और बढ़ते हुए शैक्षणिक कार्यक्रम के साथ–साथ बढ़ती गई।

दोपहर को कुछ घण्टों के अवकाश के बाद सब बच्चे उनके द्वारा दिनभर में किए गए काम से संबंधित व जीवन के अन्य पहलुओं से संबंधित पढ़ाई में लग जाते थे जिनमें स्वास्थ्य व सांस्कृतिक पहलू शामिल थे। दोपहर को सभी बच्चों के लिए संगीत व कला की कक्षाएं होती थीं। कभी–कभी दोपहर को विशेष समारोहों की तैयारी व अभ्यास भी किया जाता था। बच्चे, अध्यापक व कला शिक्षक मिल कर समारोह स्थल की अल्पनाओं, फूलों व वस्त्रों से सजावट करते थे। मंच संचालन बुनियादी तालीम का एक महत्त्वपूर्ण भाग था। हमारे यहां साधारण खेलों की भी व्यवस्था थी, विशेषकर ऐसे खेलों की जिनमें बहुत अधिक खेल सामग्री की आवश्यकता न हो।

यहां एक और विशेषता का उल्लेख करना आवश्यक है, वह है त्यौहारों को मनाने व प्रार्थना के संबंध में। सभी धर्मों के त्यौहार मनाए जाते थे व प्रार्थना गांधीजी के आश्रम की ही होती थी जिसमें सर्वधर्म प्रार्थनाएं शामिल थीं। इससे बच्चों पर सभी धर्मों की बराबरी के संबंध में अच्छा प्रभाव पड़ता था।

अन्त में विद्यार्थियों द्वारा स्व–मूल्यांकन के बारे में उल्लेख करना उपयोगी होगा। बच्चों द्वारा किए स्व–मूल्यांकन के अनुच्छेदों के शीर्षकों से शिक्षा की विषय वस्तु के बारे में अन्दाज लग सकता है जो उस बच्चे ने प्राप्त की है। सामान्यतौर पर ली जाने वाली परीक्षा के स्थान पर सेवाग्राम में स्वमूल्यांकन व उसके साथ शिक्षकों के मूल्यांकन को अधिक प्रभावी व सृजनात्मक तरीका माना जाता था, बच्चों के सर्वांगीण विकास की प्रगति को जांचने का।

इसके कुछ शीर्षक थे : मेरा स्वास्थ्य; सामाजिक जीवन; भोजनशाला में काम; सामुदायिक सफाई; प्रार्थना; मेहमानों की मेहमाननवाजी; बीमारों की देखभाल; त्यौहार; सहकारी स्टोर; मेरा छात्रावास व अपने परिवार में व्यवहार; ग्राम कार्य; उद्योग व स्वावलंबन; कमाई व कपड़ों के संबंध में स्वावलंबन; भवन निर्माण कार्य; बागवानी; छपाई प्रेस में कार्य; भाषा व साहित्य; मातृभाषा; राष्ट्रभाषा; अन्य भाषाएं (अंग्रेजी); उद्योग व कृषि विज्ञान; सामाजिक विज्ञान; स्वाध्याय; मेरा रूझान व भविष्य योजना अध्ययन/कार्य के बारे में।

नई तालीम के प्रयोग के बारे में बहुत कुछ कहने व समझाने को है। उसका दसवां हिस्सा भी इतनी थोड़ी सी जगह में कहना कठिन है। इस विषय पर बहुत सामग्री उपलब्ध है। जो कमी है वह है नई तालीम के विश्लेषणात्मक अध्ययन की। उदाहरण के तौर पर अक्सर यह प्रश्न पूछा जाता है कि नई तालीम इतनी अच्छी शिक्षा पद्धति होते हुए भी इसका इतना प्रसार क्यों नहीं हुआ जितना होना चाहिए था? किसी दिन इस विषय पर गहन अध्ययन करना होगा। अभी के उद्देश्य के लिए मुझे लगता है इतना काफी होगा।

देवी प्रसाद : सन् 1944 से 1962 तक सेवाग्राम (वर्धा) में नई तालीम के शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय में प्रशिक्षक रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरण **: ए.बी. फाटक** , विद्या भवन सीनियर सैकण्डरी स्कूल के प्रधानाचार्य एवं शाह गोवर्द्धनलाल काबरा शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय जोधपुर में प्राचार्य रहे हैं। वर्तमान में विद्या भवन सोसायटी से जुड़े हैं।

समरहिल : एक खुशनुमा स्कूल

शंकर सिंह राठौर

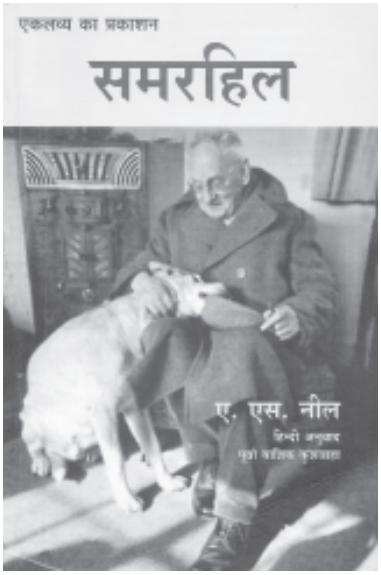

पुस्तक	:	समरहिल
लेखक	:	ए.एस. नील
हिंदी अनुवाद	:	पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा
प्रकाशक	:	एकलव्य, भोपाल
मूल्य	:	125.00 रुपये

समरहिल का एक सामुदायिक नियम हुआ करता था, जिसके अनुसार बारह वर्ष से ऊपर के हरएक बच्चे और शिक्षक को सप्ताह में दो घंटे, स्कूल परिसर में काम करना जरूरी था। इस काम का एक सांकेतिक पारिश्रमिक – छः पेंस प्रति घंटा मिलता है। काम नहीं करने पर एक छोटा–सा फाइन देना पड़ता था। कुछ लोग, जिसमें शिक्षक भी शामिल थे, फाइन देकर खुश रहते थे। जो काम करते थे, उनमें से अधिकांश की नजरें घड़ी पर होती थीं। इसमें खेल का कोई पुट नहीं था, सो यह सबको उबाऊ लगता था। इस नियम को जांचा गया और बच्चों से सर्वसम्मति से उसे वापस ले लिया।

कुछ साल पहले हमें समरहिल में एक अस्पताल की जरूरत थी। हमने तय किया कि भवन हम खुद

ही बनाएंगे। ईंट–सीमेंट वाला पक्का भवन। हममें से किसी ने पहले एक ईंट तक नहीं चिनी थी, पर काम शुरू किया गया। कुछ बच्चों ने नींव खोदी और ईंटों के लिए कुछ पुरानी दीवारें तोड़ीं। पर बच्चों ने पारिश्रमिक की मांग की। उन्हें दिहाड़ी देने से मना किया गया। अंततः, भवन शिक्षकों और मिलने आने वाले मेहमानों ने पूरा किया। यह काम बच्चों को बेहद नीरस लगा। उनके अपरिपक्व दिमाग में अस्पताल की जरूरत बहुत दूर की चीज थी। अस्पताल ने उनका स्वार्थ भी नहीं जुड़ा था। पर कुछ ही समय बाद उन्हें साइकिल रखने का शेड चाहिए था, जिसे उन्होंने बिना शिक्षकों की मदद के खुद बनाया।

मैं, बच्चों को वैसे ही बयान कर रहा हूं जैसे वे होते हैं। जैसा वयस्क चाहते हैं वे हों, उसका नहीं। उनकी सामुदायिक भावना, सामाजिक जिम्मेदारी की भावना तब तक विकसित नहीं होती जब तक वे अठारह या उससे अधिक उम्र के नहीं हो जाते। उनकी रुचियां तात्कालिक होती हैं और भविष्य का अस्तित्व ही नहीं होता।

मैंने अब तक कोई आलसी बच्चा नहीं देखा। जिस चीज का हम आलस कहते हैं वह रुचि या स्वास्थ्य का अभाव होता है। स्वस्थ बच्चा खाली नहीं बैठता, दिन भर कुछ न कुछ करता ही है। मैं एक स्वस्थ बच्चे को जानता था जिसे बेहद आलसी माना जाता था। दरअसल उसकी गणित में कोई रुचि नहीं थी, पर स्कूल के पाठ्यक्रम में गणित पढ़ना जरूरी था। जाहिर है, उसे गणित सीखनी ही नहीं थी। इस कारण उसके गणित शिक्षक को वह आलसी नजर आता था।

हाल में मैंने पढ़ा कि अगर कोई दंपती किसी शाम नाचने जाए और हरेक नाच में शरीक हो, तो वह दंपती तकरीबन पच्चीस मील पैदल चला होगा। पर नाचते समय वे थकते नहीं हैं। क्योंकि उन्हें इसमें पूरी शाम आनंद आता है। यही बात छात्रों पर लागू होती है। जो बच्चा कक्षा में आलस करता है, वही फुटबॉल के खेल के दौरान मीलों दौड़ लगाता है।

आलू बोने या प्याज की खरपतवार निकालते समय किसी भी सत्रह साल के लड़के की मदद मुझे नहीं मिलती। जबकि यही लड़के किसी गाड़ी के इंजन से छेड़छाड़ करते, गाड़ी धोने या रेडियो बनाने में घंटों बिता देते हैं। इस स्थिति को स्वीकारने में मुझे लंबा समय लगा। मुझे यह सच्चाई उस वक्त समझ आने लगी, जब मैं स्कॉटलैंड में अपने भाई के बगीचे में खुदाई कर रहा था। मुझे काम में मजा नहीं आ रहा था। मुझे अचानक समझ आया कि गड़बड़ दरअसल यह है कि मैं उस बाग मे खुदाई कर रहा हूं, जिसका मेरे लिए कोई अर्थ नहीं है। जाहिर है, लड़कों के लिए मेरा बाग अर्थहीन है, जबकि उनकी साइकिलें और रेडियो उन्हें बेहद सार्थक लगते हैं। वास्तविक परोपकारिता उनमें पनपे, इसमें लंबा समय लगता है और तब भी स्वार्थ का पुट उसमें से पूरी तरह जाता नहीं है।

काम के प्रति बच्चों का नजरिया, किशोर बच्चों से फर्क होता है। तीन से आठ साल के समरहिल के छात्र–छात्राएं दारा सिंह की तरह काम करते हैं। सीमेंट मिलाना, रेत ढोकर लगाना, ईंट हटाना। वे यह सब इनाम की इच्छा से नहीं करते हैं। वे स्वयं को वयस्कों के साथ जोड़कर देखते हैं और अपनी कल्पनाओं को वास्तविक रूप में साकार करते हैं। पर आठ–नौ साल से उन्नीस–बीस साल की उम्र तक उन्हें उबाऊ शारीरिक श्रम रास नहीं आता। यह बात अमूमन सभी बच्चों के लिए सच है। फिर भी कुछेक बच्चे बचपन से ही ताउम्र काम करने वाले बने रहते हैं।

सच यह भी है कि हम वयस्क लोग बच्चों का अक्सर शोषण करते हैं। ''मेरियॉन दौड़कर यह चिट्ठी डाक के डिब्बे में डाल आओ।'' तो बच्चों को इस्तेमाल होना पसंद नहीं आता। एक औसत

बच्चा अस्पष्ट रूप से यह बात समझता भी है कि उसके माता–पिता उसके किसी प्रयास के बिना भी उसकी देखभाल करते हैं, उसे खिलाते–पहनाते हैं। उसे लगता है कि ऐसी देखभाल पाना उसका स्वाभाविक अधिकार है। पर साथ ही उसे यह भी समझ आता है कि ऐसे सैकड़ों छोटे–बड़े उबाऊ कामों की अपेक्षा उससे रखी जाती है और उसे करने भी पड़ते हैं, जिनसे उसके माता–पिता खुद बचना चाहते हैं।

मैंने एक बार अमेरिका के एक स्कूल के बारे में पढ़ा जिसका भवन छात्रों ने खुद बनाया था। मैं सोचा करता था कि यही आदर्श स्थिति है। पर दरअसल ऐसा है नहीं। अगर बच्चे अपना स्कूल खुद बनाते हैं तो यकीनन कोई सद्भावपूर्ण सत्ता उनके सर पर खड़ी उन्हें जोश दिला रही होगी। जैसे ही सत्ता हटा ली जाएगी, बच्चे स्कूल भवन का काम बंद कर देंगे।

मेरी व्यक्तिगत राय यह है कि कोई भी समझदार सभ्यता बच्चों के अठारह साल की उम्र के पहले काम करने की अपेक्षा नहीं रखती। अठारह वर्ष के पहले अधिकांश लड़के–लड़कियां खूब काम करेंगे, बशर्ते यह काम उनके लिए खेल समान हो और उनके माता–पिता की नजर में आर्थिक रूप से बेकार भी। बच्चों को परीक्षाओं के लिए जितनी मेहनत करनी पड़ती है, उसकी कल्पना ही मुझे उदास कर देती है। मैंने सुना है कि दूसरे विश्वयुद्ध के पहले बुडापेस्ट में आधे छात्र–छात्राएं अपनी मैट्रिक की परीक्षा के बाद शारीरिक या मानसिक रूप से टूट जाते थे। हमारे पुराने छात्र–छात्राओं द्वारा स्कूल से निकलने के बाद जिम्मेदार पदों पर बेहतरीन प्रदर्शन कर पाने का कारण यह है कि वे अपने आत्मकेंद्रित काल्पनिक चरण को समरहिल में भरपूर जी पाते हैं। नवयुवक और नवयुवतियों के रूप में अपने जीवन की वास्तविकता का सामना, बचपन को फिर से जीने की अवचेतन चाहना के बिना कर पाते हैं।

पुस्तक में एरिक, फ्रॉम का प्राक्कथन...

समरहिल किसी सिद्धांत को प्रतिपादित नहीं करता। बल्कि लगभग चालीस वर्षों के वास्तविक अनुभवों का वर्णन करता है। पुस्तक के लेखक का मानना है कि आजादी, सच में कारगर है। नील की प्रणाली में अंतर्निहित सिद्धान्तों को पुस्तक में सहजता और स्पष्टता से प्रस्तुत किया गया है। संक्षेप में ये सिद्धान्त हैं:

- नील का बालक की अच्छाई में दृढ़ विश्वास है। वे मानते हैं कि एक औसत बच्चा जन्म से अपंग, कायर और आत्महीन मानव–मशीन नहीं होता। बल्कि उसमें जीवन के प्रति प्रेम, जीवन और रुचि की सम्पूर्ण संभावनाएं होती हैं।
- शिक्षा का ध्येय या कहें जीवन का ध्येय है, प्रसन्नता से काम करना और आनंद को तलाश पाना। नील के अनुसार आनंद का अर्थ है जीवन में रुचि लेना। यही बात मैं दूसरे शब्दों में यूं कहना चाहूंगा– जीवन के प्रति महज दिमागी प्रतिक्रिया न कर अपने समग्र व्यक्तित्व से जुड़ना।
- शिक्षा में सिर्फ बौद्धिक विकास पर्याप्त नहीं है। शिक्षा बौद्धिकता के साथ भावनात्मक भी हो, यह जरूरी है। आधुनिक समाज में बुद्धि और भावना में अंतर क्रमशः बढ़ता जा रहा है। आज मानव के अनुभव उसकी आंतरिक भावनाओं से, आंखों से, देखकर या कानों से सुनकर नहीं होते। वे अनुभव मुख्यतः दिमागी होते हैं। बुद्धि और भावनाओं का यह फासला व्यक्ति में ऐसी खण्डित मानसिकता पैदा करता है, जो उसे वैचारिक अनुभव ही पाने देता है।
- शिक्षा बच्चे की आत्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली होनी चाहिए। बच्चा परोपकारी नहीं होता। वह वयस्कों सा परिपक्व प्रेम करने की स्थिति में नहीं पहुंचा होता है। बच्चे से उसकी उम्मीद करना भूल होगी, जिसका वह केवल ढोंग करे। परोपकारिता तब विकसित होती है जब वह बचपन पार कर लेता है।
- सख्ती से लागू किया गया अनुशासन और दण्ड भय पैदा करता है और भय, विद्वेष जगाता है। यह विद्वेष चेतन न होकर गुप्त भी हो सकता है, फिर भी यह उसके प्रयासों को उसकी भावनाओं की प्रामाणिकता को पंगु बना डालता है। बच्चों पर व्यापक अनुशासन लागू करना, उसके आत्मिक विकास में बाधक साबित होता है।
- आजादी का अर्थ स्वेच्छाकार नहीं होता। नील जिस सिद्धान्त पर खासा बल देते हैं, वह यह है कि व्यक्ति के प्रति श्रद्धा दोतरफा होती है। शिक्षक बालक पर बल प्रयोग नहीं करे, न ही बालक को यह अधिकार हो कि वह शिक्षक पर बल प्रयोग करे। उसे अधिकार नहीं होता कि वह वयस्क पर महज इसलिए हावी हो क्योंकि वह बच्चा है। न ही वह उन तरीकों से दबाव डाले, जिनका प्रयोग बच्चा कर सकता है।
- इस सिद्धान्त से जुड़ी बात है, शिक्षक की वास्तविक निष्कपटता। लेखक कहते हैं कि 40 वर्षों तक समरहिल में काम करने के दौरान उन्होंने किसी बच्चे से झूठ नहीं बोला। जो भी इस पुस्तक को पढ़ेगा उसे विश्वास हो जाएगा कि वह एक दम्भी दावा नहीं है, बल्कि सीधी–साफ सच्चाई का बयान है।
- अपराधबोध मुख्यतः बच्चे को सत्ता से जोड़ने का काम करता है। स्वतंत्रता की राह में अपराधबोध आड़े आता है। आपराधिक भावनाएं एक ऐसा दुश्चक्र शुरू करती हैं जो बच्चे को विद्रोह, पश्चाताप, आत्मसमर्पण और एक नए विद्रोह में फंसाती हैं। हमारे समाज के अधिकांश लोग जो अपराध की भावनाएं झेलते हैं, वह अपराधबोध आत्मिक आवाज की प्रतिक्रिया नहीं होती बल्कि मूलतः सत्ता के प्रति खिलाफत और दण्ड का भय होता है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि वह दण्ड शारीरिक हो, स्नेह–प्रेम को हटा लेना हो, या फिर उसे यह जताना हो कि वह अपना नहीं पराया है। सभी आपराधिक भावनाएं डर पैदा करती हैं, और डर से उपजता है विद्वेष और पाखंड।

समरहिल एक खुशनुमा स्कूल, जो 1921 से अद्यतन तक इंग्लैंड में लन्दन से 100 मील की दूरी पर स्थित है। इसे कुछ लोग मनमर्जी का स्कूल या पागलखाना भी कहते रहे पर यह अब एक प्रदर्शन स्कूल के रूप में सारी दुनिया को बता चुका है कि बच्चों की आजादी सचमुच कारगर है। यह स्कूल इस धारणा पर आधारित है कि बच्चे स्कूल के लिए नहीं बल्कि स्कूल को बच्चों के अनुकूल होना चाहिए। इस स्कूल में बच्चे अपने को मुक्त महसूस करते हैं, उन्हें खुद निर्णय करना होता है कि वे क्या पहनें, अपना कक्ष कैसा रखें, कक्षा में उपस्थित होना है या नहीं, वे कहां रहना, क्या करना पसंद करेंगे। वर्कशॉप, विविध गतिविधियों, क्रियाकलापों का पर्याप्त समावेश करते हुए यह मात्र स्कूल नहीं बल्कि बच्चों के सर्वांगींण विकास का केंद्र है। इस स्कूल में कक्षाएं आयु व रुचि के अनुरूप लगती हैं। शाला का समय–चक्र बच्चों के लिए नहीं शिक्षकों के लिए होता है। समरहिल बच्चों में आत्मविश्वास पैदा करता है। यहां कोई दिखावटी अनुशासन, निर्देशन, सुझाव उपदेश नहीं होता। समरहिल बताता है कि सीखना महत्त्वपूर्ण है, पर उतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना कि व्यक्तित्व और चरित्र निर्माण। और यह भी कि चरित्र निर्माण और व्यक्तित्व का विकास स्कूल की विषयवस्तु नहीं बल्कि शिक्षक–छात्र के संबंधों की परिणिति है। शिक्षक की आत्मीयता इसमें गहरा अर्थ रखती है।

समरहिल में बच्चें अपनी इच्छा से आते हैं। इच्छा के अनुरूप रहते हैं। समरहिल में समरहिल के अनुरूप अभ्यस्त होने में बालबाड़ियों से आने वाले बच्चों को जल्दी जबकि अन्य शालाओं के अनाकर्षक वातावरण से आने वाले बच्चों को देर लगती है।

समरहिल में शिक्षक, प्रबंधक, विद्यार्थी सभी के मत का 'एक समान मत' महत्त्व होता है। समरहिल मानता है कि बच्चा छोटा भी हो तो भी आजाद बच्चा आसानी से किसी के प्रभाव में 'मत' नहीं देता और उसे इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी है।

समरहिल में सभी को समान अधिकार है। नील का पियानो कोई नहीं छुऐगा तो नील भी किसी बच्चे की साइकिल उसकी बिना इजाजत नहीं ले सकता।

समरहिल बताता है कि स्कूल, प्रबंधन, शिक्षक कोई ऐसी सत्ता नहीं जिससे डरा जाए। स्कूल को बच्चों को समर्थन देना आना चाहिए। उसका पक्ष लेना आना चाहिए। यदि ऐसा है तो बच्चा अपनी अभिव्यक्ति करेगा। अपनी गलती बताएगा, उसे किसी की नाराजगी या आक्रोश का भय नहीं रहेगा।

समरहिल आदरभाव के महिमामंडन को खंडित करता है। वहां ए. एस. नील मात्र नील है। ऐसे ही शिक्षकों के साथ आदरसूचक शब्दों का जाल नहीं जुड़ा रहता।

वहां परीक्षाएं नहीं होती हैं। यदि ली भी जाएं तो वे केवल मजे के लिए कभी कभार आयोजित होती और बड़ी हल्की फुल्की मजेदार होती हैं।

समरहिल का बच्चा यदि विश्वविद्यालय में प्रवेश का निर्णय करता है तो वह इसके लिए परीक्षा की तैयारी में संलग्न होता है। जरूरी नहीं कि वह पहले प्रयास में ही सफल हो पर वह निराश नहीं होता और लक्ष्य जरूर पाता है।

समरहिल का बच्चा अन्य स्कूलों की तरह सुलेख, वर्तनी भिन्न आदि में भले ही आगे न हो परन्तु यदि कोई मौलिकता की परीक्षा होती तो उसमें जरूर आगे रहेगा।

समरहिल बच्चों को भय और घृणा से विकृत कर रचनाहीन नहीं बनाता। समरहिल को यह पसंद नहीं कि बच्चा कैसा है? और उसे कैसे सीखना है?

यह वयस्क तय करें। समरहिल की अंतिम आस्था है कि बच्चा दुष्ट नहीं होता, अच्छा होता है। उसे ज्ञात है कि वह विवकेशील व यर्थाथवादी होता है और उस सीमा तक विकसित होना उसके लिए संभव है जिसके लिए कि वह बना होता है, बशर्ते वयस्कों का इसमें हस्तक्षेप न हो। समरहिल बच्चों को वही बनाता है जिसके लिए वे बनें हैं। उसकी दृष्टि में मनोरोगी विद्वान की अपेक्षा खुशमिजाज सफाईकर्मी ज्यादा बेहतर है।

समरहिल जानता है कि एक औसत बच्चे को वर्तमान स्कूली विषयों में कोई खास रुचि नहीं रहती है और यह सही भी है कि जीवन का स्वाभाविक लक्ष्य आंतरिक शांति, खुशी–खुशी काम करना तथा सकारात्मक जीने की क्षमता है जिसके लिए वर्तमान स्कूली पढ़ाई कोई खास मदद नहीं करती। बच्चे के लिए कुछ करना व वास्तविक आत्मअभिव्यक्ति का ज्यादा महत्त्व होता है। बड़ों की तरह बच्चे भी वही सीखते हैं जो वे सीखना चाहते हैं। हमारे द्वारा घरों में बच्चों को सीखने में मदद करना, उनके खोज के आनंद में और उनके बाधा पार करने की खुशी में व्यवधान डालता है। समरहिल बताता है कि इनाम, अंक परीक्षाएं, डिग्री बच्चे के व्यक्तित्व विकास में कोई खास फायदा नहीं पहुंचाते। उदाहरण के लिए मुझे आई. आई. टी. मुबंई के सेवानिवृत मैकेनिकल लैब के इंचार्ज ने एक घटना बताई। जो इस प्रकार है कि वे जब गोदरेज कंपनी में थे, तो एक बहुत विशालकाय मशीन को, उसके लिए खोदे गए विशाल गड्ढे में स्थापित करना था। कंपनी के बड़े –बड़े अभियंता कई दिन तक कोई कारगर उपाय न निकाल पाए तब उन्होंने एक उपाय निकाला, जिसके तहत उस गड्डे को पानी से भर कर, कूलर चला कर, पानी को बर्फ में परिवर्तित किया और फिर उस पर मशीन को रखा गया। बाद में बर्फ जब पानी बनी तो पानी को पंपों द्वारा निकाल कर, मशीन यथास्थान स्थापित कर दी गई। इसके लिए कंपनी ने उन्हें एक लाख रुपए का पुरस्कार दिया। सार यही है कि वे सज्जन कोई इंजीनियरिंग के डिग्रीधारी नहीं है केवल 11वीं कक्षा पास थे, पर उन्होंने वह कर दिखाया जो इंजीनियर भी नहीं कर पा रहे थे। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि बच्चे के लिए पुस्तकें सबसे कम जरूरी उपकरण हैं। जरूरी तो औजार, मिट्टी, खेल, नाटक, रंग, आजादी आदि हैं। इस प्रकार बच्चे के लिए खेल पढ़ाई से पहले आना चाहिए। आज की पढ़ाई उनकी ऊर्जा, समय, धीरज आदि की बरबादी है। हम क्यों भूल जाते हैं कि स्वामी विवेकानंदजी ने भी तो पहले शरीर की सुदृढ़ता की बात कही है।

नील के अनुसार आज के प्रशिक्षणों के प्रशिक्षणार्थियों में जीवन के प्रति नजरिया बच्चों के समान है। वे केवल जानते हैं, महसूस नहीं कर पाते। उनमें विचारों को अहसास के स्तर पर लाने की कमी है। उनमें भावनात्मकता की कमी है।

नील के अनुसार पालकों में बच्चे के भविष्य का डर, बच्चे के स्वास्थ्य, उसकी रफ्तार के लिए हानिकारक है। पालकों को उसे छेड़ना नहीं चाहिए, धीरज रखना चाहिए। वह जिसके लिए बना है, जरूर बनेगा। वे मानते हैं कि बच्चे अपनी रुचि के साथ चमत्कार कर सकते हैं। वे रुचि व अपनी आवश्यकता से स्वयं पढ़ते हैं, लक्ष्य तलाश पाते हैं। उनके लिए अनावश्यक पहल, उनकी स्वयं पहल करने की क्षमता को सुखा देती है। उन्होंने देखा कि डिग्रियां सामाजिक बुराइयों से लड़ने की क्षमता में रत्तीभर भी वृद्धि नहीं करतीं। उन्होंने पाया कि जो बच्चे टेक्निकल क्षेत्रों में जाते हैं, वे परीक्षाओं की परवाह नहीं करते। वे तो मशीनों से खेलना चाहते हैं। ऐसे ही पढ़ाई में रुचि न दिखाने वाली लड़कियां सिलाई–कढ़ाई, डिजाइनिंग, घरेलू क्षेत्रों में बेहतरीन योग्यता रखती हैं।

समरहिल बताता है कि अनुशासन के डंडे से हम कल्पनाहीन शिक्षक, साधारण डॉक्टर, अकुशल वकील आदि ही बना पाते हैं, बेहतरीन मेकनिक, कुशल कारीगर, समर्थ व्यक्तित्व नहीं।

समरहिल दृष्टि देता है कि ग्रामर के बिना भी भाषा पर पकड़ होती है। सात बार फेल होकर भी रंगमंच पर अपनी दुनिया में जाने का सपना साकार होना, जीवन की सार्थकता है।

समरहिल में बच्चे गणित, गृहकार्य आदि के कारण रोते नहीं हैं, नैराश्य में नहीं जाते बल्कि 'जीना' सीखते हैं, जो जीवन के लिए अत्यावश्यक है न कि प्रमाणपत्र, अंकसूची, या डिग्री।

समरहिल बताता है कि 'बच्चा सीख नहीं रहा तो वह समय बरबाद कर रहा है', यह धारणा एक अभिशाप है। पालक, समाज और स्कूल को इसे बदल लेना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि मस्तिष्क का विकास ही मात्र विकास नहीं, हृदय और हार्दिकता भी जीवन की संजीवनी है। सीखने पर बल देकर हमें बच्चों की रचनात्मकता नहीं कुचलनी चाहिए। बच्चों की भावनात्मक क्षति शिक्षक, अभिभावक व सभ्यता के दमनकारी स्वरूप द्वारा बच्चे पर दबाव डालने से होती है।

व्यक्तिगत तौर पर मैं समरहिल की दृष्टि को बच्चों की दुनिया के अनुकूल पाता हूं और मुझे लगता है कि कितना समय हो गया है और मनुष्य अभी भी अपने बचपने को क्यों नहीं समझ पा रहा है?

शंकर सिंह राठौर : व्याख्याता, हाई स्कूल चिपरा विकासखंड डौंडी, जिला बालोद, छत्तीसगढ़।

■ विश्लेषण

बुनियादी शिक्षा का परिवर्तनकारी नजरिया

मैकॉलेवाद बनाम फूले–गांधी–अंबेडकर का मुक्तिदायी शैक्षिक विमर्श

अनिल सद्गोपाल

गूजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद में 28 फरवरी से 6 मार्च 2011 तक ''नई तालीम का परिवर्तनकारी नजरिया : उपनिवेशवाद से लेकर नवउदारवाद तक ज्ञान की लड़ाई'', विषय पर व्याख्यान माला आयोजित की गई थी। नई तालीम की इस सार्वजनिक व्याख्यानमाला में प्रो. अनिल सद्गोपाल ने सात व्याख्यान दिए। इन व्याख्यानों के विषय– मैकॉलेवाद बनाम फूले–गांधी–अंबेडकर का मुक्तिदायी शैक्षिक विमर्श, उत्पादक काम, भाषा और ज्ञान का शिक्षा शास्त्र, शिक्षा, विषमता और विविधता, शैक्षिक परिवर्तन–अनुभव विश्लेषण और सबक, शिक्षा पर नवउदारवादी हमला, शिक्षा नीति का राजनीतिक अर्थशास्त्र और शिक्षा के अधिकार के मायने, थे। मैकॉलेवाद बनाम फूले–गांधी–अंबेडकर का मुक्तिदायी शैक्षिक विमर्श को यहां प्रस्तुत किया गया है।

यह बड़ी विडंबना है कि गांधी, जिन्होंने जिन्दगी भर मैकॉलेवाद के खिलाफ और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ झंडा उठा कर देश भर को लामबंद किया, उस लड़ाई के लिए, मैकॉलेवाद से अपनी बात शुरू कर रहा हूं, उनके नई तालीम के नजरिए को पेश करने के लिए। यह अजीब तो लगता है, लेकिन इसलिए जरूरी है कि गांधी ने जिस परिप्रेक्ष्य में, जिस पृष्ठभूमि में इन मुद्दों को उठाया, वे नहीं उठा पाते, अगर देश में मैकॉले की नीति उस समय लागू नहीं होती, मेरा पूरा विश्वास है। आप हिंद स्वराज को पढ़िए और जैसे ही शिक्षा की बात आती है, वे मैकॉले का जिक्र करने लगते हैं, और मैकॉले की शिक्षा ने कैसे हमें गुलाम बनाया, इसका जिक्र करते हैं। मैकॉले–मैकॉले बहुत होता है, पर हम एक बार यह समझें कि ये है क्या? वह समझ लिया, तो बहुत कुछ मामला सरल हो जाएगा। गांधीजी ने समझ लिया था उसे अच्छे तरीके से। कुछ हद तक महात्मा फूले ने समझ लिया था, इसलिए मैंने महात्मा फूले को जोड़ा है। बाबा साहेब अंबेडकर ने शायद उस तरीके से नहीं समझा, जैसे महात्मा फूले और गांधीजी ने समझा, लेकिन अलग नजरिए से वे भी वही बात कह रहे थे, जो फूले और गांधी कह रहे थे। उनमें फर्क था, फर्क की बात हम कर सकते हैं, पर उनके बीच में, जो एक सूत्र था शिक्षा में बदलाव लाने का, उसको भी हम समझ लें। वैसे गांधी को फूले और अंबेडकर के संदर्भ में देखने की, जो मैं हिम्मत कर रहा हूं, शायद इस पर बहुत कम बात की गई है। इस पर बात करते हुए मुझे डर भी लगता है। मैं जानता हूं इस पर जो राजनीतिक विमर्श है, इस विषय में गांधी को फूले और अंबेडकर के साथ जोड़ कर देखना, देश में बहुत सारे तबकों के द्वारा ठीक नहीं माना जाता। लेकिन मैं जान बूझकर कोशिश कर रहा हूं, यह बताने की कि, तीनों के बीच कहां एकता थी और कहां पर फर्क था।

सन् 1835 में ब्रिटिश राज के तहत भारत के प्रशासन को चलाने के लिए, भारत की जो काउंसिल ऑफ इंडिया बनाई गई थी, लॉर्ड मैकॉले उसके एक सदस्य थे। और साथ ही सार्वजनिक शिक्षा के नाम पर जो

बड़ा विभाग गठित किया गया था कलकत्ता में, जो राजधानी थी उस समय ब्रिटिश राज की, उसके वे अध्यक्ष थे। उनके सामने एक मसला था, जो ब्रिटेन की पार्लियामेंट से आया था। उन्होंने एक लाख रुपए का अनुदान दिया था। उस समय का एक लाख रुपया आज के शायद हजारों करोड रुपयों के बराबर है। एक लाख रुपए के अनुदान का, शिक्षा के लिए कैसे इस्तेमाल करना है, पर बहस शुरू हुई, उस काउंसिल ऑफ इण्डिया के तहत। उसमें बहुत से लोगों ने अलग–अलग विचार दिए, तो उन सबको सुनकर मैकॉले साहब ने एक प्रतिवेदन तैयार किया, जिसको 'मैकॉले के मिनट्स' के रूप में या 'मैकाले के प्रतिवेदन' के रूप में याद किया जाता है। मैकॉले के मिनट्स को मैं शायद बीस बार पढ़ चुका हूं, अलग–अलग समय पर। और मुझे लगता है कि अगर मैं उसे 21वीं बार भी पढ़ूंगा तो गलती नहीं करूंगा। हर बार मुझे उसमें से कुछ नया मिल जाता है। मैकॉले चाहे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रतिनिधि के रूप में यहां पर थे, लेकिन मुझे यह कहने में आज कोई संकोच नहीं है कि उनके बराबर की दूरदृष्टि के व्यक्ति भारत की शिक्षा के क्षेत्र में बहुत कम हुए होंगे। गांधी अपवाद हैं, फूले अपवाद हैं और अंबेडकर अपवाद हैं। इन तीनों को छोड़ दें और शायद इसमें कुछ हद तक विवेकानंद भी हैं, श्री अरविंद भी हैं, टैगोर भी हैं। इन कुछ बड़े–बड़े नामों को छोड़ दें, तो वैसी दूरदृष्टि बहुत कम की रही होंगी। मुझे इसे कहने में कोई झिझक नहीं है क्योंकि अपने दुश्मन की बुद्धिमत्ता को स्वीकार लेना बेहतर होता है, न कि दुश्मन को बेवकूफ मानते रहना। तो दुश्मन को स्वीकार लेना कि उसने बहुत दूर को सोच लिया। चूंकि उन्होंने दूर का सोचा, इसीलिए हिंदुस्तान की आजादी के साठ साल बाद भी हम उसी रास्ते पर चल रहे हैं। एक इंच इधर–उधर नहीं हुए। अगर कहीं हुए, तो उसको और पुष्ट किया, मजबूत किया, उसको और पुख्ता बनाया, जो मैकॉले ने खुद ने सोचा था उससे और आगे बढ़ गए हम, उससे पीछे नहीं हटे, उसी रास्ते पर आगे बढ़ते गए। उन्होंने जो बहुत–सी बातें कहीं, उनमें से मैं आपके सामने चार बातें रखूंगा। उन्होंने एक बात यह रखी कि भारत में जो तमाम बोलियां बोली जाती हैं, जिसको अंग्रेजी में 'डायलेक्ट' बोलते हैं, उन्होंने उन्हें 'लैंगवेज' नहीं कहा है। उन्होंने डायलेक्ट कहा है। उस समय चूंकि वे बंगाल में थे, तो कहा कि जो आस–पास बोलियां बोली

जाती हैं, तो वे बंगाल की तमाम भाषाओं के बारे में बात कर रहे थे। उस समय का बंगाल बंटा हुआ नहीं था। उसमें वे इतनी कमजोर हैं कि उनमें कोई भी आधुनिक ज्ञान की बात न तो कही जा सकती है और न ही लिखी जा सकती है और न ही किसी और भाषा में (यूरोप की विकसित भाषाओं में) कही हुई बात का उसमें अनुवाद हो सकता है। अनुदित भी नहीं हो सकती हैं। भारत के वे लोग, जो उच्च शिक्षा में आगे बढ़ना चाहते हैं, उनके लिए आवश्यक होगा कि वे अपनी भाषाओं में नहीं बल्कि यूरोप की भाषाओं में उच्च शिक्षा को पाएं। उन्होंने उसी प्रतिवेदन में अन्यत्र लिखा है कि दुनिया की जितनी विकसित भाषाएं हैं, उनमें भारत की या एशिया की कोई भी भाषा नहीं है। न तो अरब देशों की न अफ्रीका की और न ही लैटिन अमेरिका की। जो यूरोप की विकसित भाषाएं हैं, उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान अंग्रेजी का है। इसलिए अंग्रेजी में ही सीखें भारत के लोग, तो बेहतर होगा। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात, उन्होंने कही कि अगर आप यूरोप के अच्छे ज्ञान के साहित्य को इकट्ठा करें और उसको एक दराज में लगा दें, एक शैल्फ में लगा दें, और दूसरी ओर अरब के मुल्कों और एशिया के मुल्कों और भारत और चीन जैसे मुल्कों के तमाम ज्ञान की किताबों और कविता, उपन्यास साहित्य की जितनी भी किताबें हैं, उन सबको अगर आप लगा दें और उनकी कई अलमारियां भर दें, तो भी यूरोप के एक शैल्फ की पुस्तकों में जो ज्ञान है, उससे भी वह कहीं पीछे रह जाएगा। उसके लिए एक शैल्फ ही काफी है। तीसरी बात, उन्होंने कहा कि आपकी मातृभाषा के जरिए तो कोई भी आगे नहीं बढ़ सकता है। इसीलिए अंग्रेजी सर्वोत्तम भाषा होगी। साथ में यह भी कहा कि 1835 में सरकारी दफ्तरों में, जो ऊंचे पदो पर भारतीय आकर बैठ गए हैं, जिनको ऊंचे पद मिल चुके हैं, वे तो अभी से ही अंग्रेजी को सब कुछ मान चुके हैं, इसलिए उसी को ही आगे बढ़ाना बेहतर होगा। यह आज भी देख लें, जो आज हो रहा है, वह 1835 में भी हो रहा था। आखिरी बात, जो उन्होंने कही कि हमारे जो सीमित संसाधन हैं (1835 में कह रहे हैं) उनके मद्देनजर भारत के सब लोगों को शिक्षित करना तो हमारे लिए मुमकिन नहीं है। यही बात आज प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह भी कहते हैं। वे अपने बजट में सारे देश को कहते हैं– हमारे लिए देश में सब बच्चों के लिए पूर्व प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करना, प्राईमरी और मिडिल स्कूल खोलना, सेकण्डरी स्कूल खोलना, हायर सेकण्डरी स्कूल खोलना, कॉलेज और यूनिवर्सिटी खोलना मुमकिन नहीं है। हमारे पास पैसा नहीं है। जो बात 1835 में लॉर्ड मैकॉले ने कही, ठीक वही बात आज आजाद हिंदुस्तान की बारहवीं योजना के तुरंत पहले प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह भी कह रहे हैं। इसके पहले के सभी प्रधानमंत्रियों ने यही बात कही। बिना किसी पार्टी के अंतर को मानते हुए, सब प्रधानमंत्रियों ने यही बात कही। अगले वाले भी यही कहेंगे, अगर हम लोग उठ खड़े नहीं हुए तो। लॉर्ड मैकॉले ने एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही। उन्होंने कहा कि भारत के वे लोग जिनको हम शिक्षित करेंगे वे इस देश की जनता को हमारी बात समझाने के लिए 'व्याख्या' करेंगे, हमारे 'इंटरप्रेटर' बनेंगे। आज की ताजा राजनीतिक भाषा में हमारे दलाल बनेंगे। हम जो चाहते हैं, उसको देश भर को उनकी बोलियों में समझाते जाएंगे। हम अंग्रेजी में उन्हें समझाएंगे, उनकी बोलियों में वे देश को समझाएंगे। हम एक ऐसा वर्ग खड़ा करने जा रहे हैं हिंदुस्तान में, जिसकी चमड़ी और खून का रंग तो वही होगा, जो भारतीयों का होता है, लेकिन उनकी अभिरुचियां, उनके मत, उनके नैतिक मूल्य और उनकी बुद्धि ब्रिटिश राज के अनुसार काम करेगी।

इसे आज के प्रचलित शब्दों में 'दलाल' कहा जाता है। आज आप ब्रिटिश राज के शब्द को बदलकर यदि

उसे 'कॉरपोरेट राज' लिख दें, तो जो दुनिया का कॉरपोरेट राज चाहता है, आज उसके हिसाब से, पूरे भारत की शिक्षा चलाई जा रही है। बार–बार कहा जा रहा है कि हमारे पास संसाधन नहीं हैं। पैसा नहीं हैं, हम गरीब मुल्क हैं। दूसरी तरफ, हम कहते हैं कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय आमदनी सकल राष्ट्रीय उत्पाद, जिसको अंग्रेजी में 'ग्रोस डोमेस्टिक प्रोडक्ट' बोलते हैं, जी.डी.पी. कहते हैं, वह नौ फीसदी की दर से घोड़े की चाल से दौड़ रही है, छलांग लगा रही है। बड़े गर्व से हम दुनिया को सुनाते हैं और केवल आठ साल बाद हम दुनिया की महाशक्ति बनने का सपना देख रहे हैं। लेकिन बार–बार कहे जा रहे हैं, हमारे पास पैसा नहीं है। इसलिए विदेशी विश्वविद्यालय आएंगे, बाहर से पैसा लाया जाएगा, फॉरेन डायरेक्ट इंवेस्टमेंट होगा। वह सब होगा क्योंकि हमारे पास पैसा नहीं है। लॉर्ड मैकॉले और हम आज एक ही बात कह रहे हैं। इस कॉरपोरेट दुनिया का जो कब्जा है, दुनिया भर के संसाधनों पर, उस कब्जे को और मजबूत करने के लिए हम दलाल तैयार करेंगे। जो हमारी भाषा में सीखेंगे और उनकी भाषा में लिखेंगे। आप लोगों की बोलियों में, आपको समझाते जाएंगे। मीडिया यह काम करता है। ये है 'मैकॉलेवाद'। यह बात, उसके बाद, बहुत से शिक्षाशास्त्रियों ने, समाज विज्ञानियों ने स्थापित की है कि जो राज सत्ता होती है, वह हमेशा अपने पक्ष में लोगों का मानस, चिंतन और ज्ञान तैयार करने के लिए शिक्षा देती है। वह राजसत्ता के खिलाफ आवाज खड़ी करने के लिए, विद्रोह करने के लिए शिक्षा नहीं देती है। हम उनके द्वारा दी गई शिक्षा के विद्यालयों से, उनके कॉलेजों, विश्वविद्यालयों से किसी भी प्रकार अपने पक्ष की बात निकाल लें, वह हमारी जिम्मेदारी होगी, उनकी नहीं है। वे तो आपको गुलाम बनाने की ही शिक्षा देंगे। इस बात को गांधीजी ने 1909 में समझ लिया, जब 'हिन्द स्वराज' लिखा। हिन्द स्वराज सबसे पहले गुजराती में लिखा गया। जब गुजराती में लिखा गया, तो उस पर प्रतिबंध लग गया। ब्रिटिश सरकार उसके लिखने और छपने से घबरा गई। तब दक्षिण अफ्रीका में बैठकर गांधीजी ने स्वयं उसका अंग्रेजी अनुवाद किया, उस पर भी प्रतिबंध लग गया। ब्रिटिश सरकार इतनी बौखलाई उस छोटे से दस्तावेज से, जो अभी भी शायद दस–बारह रुपए में रेलवे स्टॉल पर मिल जाता है। उसमें उन्होंने कहा, मैकॉले की शिक्षा हमको गुलाम बना रही है। आप पढ़ लीजिए हिन्द स्वराज में सब लिखा हुआ है। उन्होंने मैकॉले की शिक्षा और भारत में जो औपनिवेशिक सत्ता मौजूद थी ब्रिटिश साम्राज्य की, उसको एक सभ्यता के द्वन्द के रूप में देखा। 1909 के बाद गांधीजी के विमर्श में यह बात बड़ी साफ–सुथरे रूप में आ गई और आगे बढ़ती गई। लेकिन इसके और पहले, सबसे पहले भारत में मैकॉले की शिक्षा में ज्ञान का जो चरित्र था, उसके खिलाफ आवाज महात्मा ज्योतिबा फूले ने खड़ी की। महात्मा ज्योतिबा फूले ने अपनी आवाज का यह प्रतिवेदन सन् 1882 में ब्रिटिश राज के द्वारा स्थापित हंटर आयोग के सामने पेश किया था।

यह बहुत लंबा प्रतिवेदन है, जिसको उन्होंने मराठी में लिखा है और उसे अंग्रेजी में पेश किया। उसमें उन्होंने इस बात को लिखा कि, बहुत बड़ी विडंबना है कि ब्रिटिश राज देशभर के मेहनतकश मजदूरों और किसानों के पसीने की गाढ़ी कमाई से राजस्व इकट्ठा करता है, रेवेन्यू बटोरता है। लेकिन जब वह उसको खर्च करता है, और जब शिक्षा के लिए खर्च करता है, तो उसका सारा फायदा उच्च वर्गों और उच्च वर्णों को मिलता है। अपर क्लासेज एवं अपर कास्ट्स को मिलता है। अगर महात्मा फूले आज जिंदा होते, तो आज जो हो रहा है, उसको फिर उन्हीं शब्दों में, उसी विश्वास के साथ लिख देते कि कमाई तो देश के तमाम गरीब लोग कर रहे हैं, जिनको माना जाता है 93 फीसदी भारत के लोग, जो असंगठित या

अनऑर्गनाईज्ड क्षेत्र में काम करते हैं, उत्पादन करते हैं। केवल 7 फीसदी लोग, जो संगठित क्षेत्र में उत्पादन करते हैं, वह देश का यह सारा मध्यम वर्ग है, उसमें इनके फायदे के लिए सारी शिक्षा का इस्तेमाल होता है। याद करें, अर्जुन सेन गुप्ता आयोग की रिपोर्ट, जिसमें कहा गया कि 78 फीसदी लोग वे हैं, जो रोज महज 20 रुपए में गुजर–बसर करते हैं। तो 78 फीसदी मायने जो 20 रुपए में गुज़र–बसर करते हैं या 93 फीसदी मायने जो असंगठित क्षेत्र के लोग हैं, उनके लिए शिक्षा की योजना नहीं बनती है। वह बनती है, एक उच्च मध्यम वर्ग के फायदे के लिए। महात्मा फूले ने दूसरी, जो बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही, वह मैं उन्हीं के शब्दों में रखूंगा। उन्होंने कहा कि ''जो प्राथमिक विद्यालय मैं देख रहा हूं, वे कतई ठीक नहीं हैं, भारत के लिए। उनसे न तो कोई उपयोगी ज्ञान मिलता है और न ही कोई व्यावहारिक ज्ञान जिसको प्राप्त करके भारत के बच्चे आगे बढ़ सकें अपनी जिंदगी में।'' आगे वे लिखते हैं, ''ये जो शिक्षा देने की पूरी मशीनरी खड़ी कर दी गई है, ये केवल नौकरी दे रही है। उसमें आमूलचूल तब्दीली की जरूरत है।'' वे आगे एक बड़ी खूबसूरत बात कहते हैं। वे कहते हैं, ''हमें तो ऐसे शिक्षक चाहिए, जो अपने हाथों में हल पकड़ सकेंगे या बढ़ई या सुथार की आरी को अपने हाथों में पकड़ कर इस्तेमाल कर सकें। उनमें यह भी क्षमता हो कि वे समाज के सबसे निचले तबकों के साथ दोस्ती कर सकें, इज्जत के साथ उनसे मिलजुल सकें।'' उन्होंने यह बात, बड़े कष्ट के साथ लिखी। आज शिक्षा विभाग में जितने शिक्षक नौकरी पा रहे हैं, वे सब उच्च वर्गों, उच्च वर्णों के हैं। वे न तो हल पकड़ सकते हैं और न ही आरी और न ही समाज के निचले तबकों के साथ दोस्ती कर सकते हैं। हम सोचें, हम क्या बदल गए हैं, हममें कुछ फर्क है, उस समय से? महात्मा फूले ने फिर कहा कि ब्रिटिश सरकार एक ऐसी पाठ्यचर्या बनाए, जो खेती से जुड़ी हुई हो, श्रम आधारित हो और कुछ उपयोगी कलाओं को भी सिखा दे, जो हमारे बच्चों का नैतिक उत्थान करे। यह बहुत जरूरी है। तीसरी बात, उन्होंने कहा, ''मैं बात जरूर प्राथमिक विद्यालयों की कर रहा हूं, पर मैं यह बात साफ करना चाहता हूं कि हमारी मांग केवल अच्छे प्राथमिक विद्यालयों की नहीं है, हमारी मांग अच्छी उच्च शिक्षा की भी है।'' फूले का नाम जपने वाले बहुत कम लोग इस बात को पकड़ पाए। एक पैराग्राफ में उन्होंने कहा कि कोई भी मुल्क आगे नहीं बढ़ सकता, जिसकी उच्च शिक्षा पीछे रह जाए। साथ में यह भी कहा कि प्राथमिक शिक्षा तभी आगे बढ़ेगी, जब उच्च शिक्षा आगे बढ़ेगी। क्योंकि प्राथमिक शिक्षा में जिस ज्ञान की जरूरत है, चाहे वह सामाजिक विज्ञान हो, मनोविज्ञान हो या विज्ञान, उसकी उत्पत्ति और उसकी तैयारी उच्च शिक्षा में ही होती है। ये तीन बहुत महत्त्वपूर्ण बातें 1882 में कही गई, सवा सौ साल पहले। इस पृष्ठभूमि में, हम गांधी के इस सवाल को देखें, जो उन्होंने कहा कि मैकॉले की शिक्षा हमें गुलाम बना रही है।

महात्मा फूले ने यह भी कहा कि जो पाठ्यचर्या और शिक्षा शास्त्र के विचार बुनियाद बने हुए हैं भारत की शिक्षा के, आधुनिक शिक्षा के, वे आयातित हैं ऑक्सफोर्ड और कैंब्रिज से, उनका भारत के हालात से कुछ लेना देना नहीं है। आज तक वही चल रहा है। आज देश में शिक्षक–प्रशिक्षण या अध्यापक शिक्षा का जो मॉडल इस्तेमाल किया जाता है, जिसमें लेसन प्लानिंग होता है, इसका 1890 में जन्म हुआ था, ऑक्सफोर्ड और कैंब्रिज में। उन्होंने छोड़ दिया वह रास्ता। वह कुछ और रास्ते पर चल पड़े और हम उनके लेसन प्लान को आज तक हिंदुस्तान में जिंदा रखे हुए हैं, अध्यापक शिक्षण में। हमने उसे नहीं बदला। फिर फूले ने एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात रखी कि ऐसा लगता है कि भारत में जितनी शिक्षा ब्रिटिश सरकार दे रही है, उसका एक ही मकसद है। वह है, ब्रिटिश सरकार के द्वारा बनाए हुए विभिन्न सरकारी विभागों

में और ईस्ट इंडिया कंपनी में और ब्रिटेन के अन्य कंपनियों में उनको नौकरियां मिलती जाएं। इस शिक्षा का मकसद लोगों को नौकरी के लिए तैयार करना है। आज भी स्वतंत्र भारत में वही हो रहा है।

महात्मा फूले ने कहा कि जो शिक्षा केवल रोजगार देने के लिए दी जाती है, उसको मैं शिक्षा मानने के लिए तैयार नहीं हूं। उन्होंने यह नहीं कहा कि रोजगार के लिए शिक्षा नहीं होनी चाहिए बल्कि वे ब्रिटिश सरकार के तमाम विश्वविद्यालयों को चाहे वे प्राथमिक हों या उच्च शिक्षा के, जो केवल नौकरियां देने के लिए लोगों को तैयार कर रहे हैं, को शिक्षा देने वाले विद्यालय मानने को तैयार नहीं थे। शिक्षा को लेकर टैगोर और गांधी के बीच में भी भारी मतभेद थे, लेकिन एक बात पर वे एक–मत थे कि शिक्षा केवल रोजगार या नौकरियों के लिए नहीं हो सकती। दोनों में मतभेद की वजह यह थी कि महात्मा गांधी भारत की आजादी की लड़ाई का नेतृत्व कर रहे थे और साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ रहे थे, लामबंद कर रहे थे लोगों को, तो उनका एक नजरिया था कि शिक्षा कैसी हो। दूसरी ओर, टैगोर शिक्षा को सौन्दर्य बोध और भारत की प्राचीन संस्कृति से निकली हुई ललित कलाओं के साथ जोड़ कर, शिक्षा का और खास कर उच्च शिक्षा का पुनर्निर्माण कर रहे थे। उनका शिक्षा को देखने का एक अलग नजरिया था। दोनों के बीच में बहुत सारी समान बातें भी थीं। गांधीजी लगातार रूप से यह कहते रहे कि शिक्षा हमें अपनी जड़ों से काट रही है और जड़ों से काटने वाली शिक्षा सही नहीं होती। गांधीजी ने आगे कहा हम अपनी जड़ों से तो जुड़े रहेंगे लेकिन आगे बढेंगे और हमारी जड़ों में जो भी खामियां हैं, जो भी विसंगतियां हैं, जो भी उसमें दकियानुसीपन है, उन सबसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से लड़ेंगे, उनको बदलेंगे, लेकिन अपनी जड़ों से जुड़ कर लड़ेंगे न कि जड़ों से कट कर।

एक सवाल, जो बहुत विवादास्पद भी रहा है गांधी के विमर्श में। लोगों ने उनसे कहा कि अगर आप पुराने भारत की बात कर रहे हैं तो पुराने भारत में खास कर गावों में जाति और वर्ग का भेद, औरत और मर्द का भेद और विकलांग और सामान्य लोगों में भी बहुत भेदभाव रहा। यह भेदभाव हमारे पुराने समाज की जड़ में है, बुनियाद में है। इसको गांधीजी ने बार–बार माना और बार–बार इसका जिक्र किया। लेकिन उनका मानना था कि हम इस भेदभाव को खत्म करने के लिए इसी समाज में लड़ाई लड़ेंगे, इसी समाज को बदलेंगे। यहां से शुरू होती है, गांधी और अंबेडकर के बीच की वैचारिक लड़ाई। अंबेडकर ने यह कहना शुरू किया कि जब तक गांधीजी आप वर्णाश्रम स्वीकारेंगे, तब तक आपकी वे सारी बातें कि हम जाति का भेदभाव खत्म करेंगे, मुझे मान्य नहीं हैं। अंबेडकर का मानना था कि जब तक वर्णाश्रम रहेगा, तब तक जाति का भेदभाव कायम रहेगा और तब तक हिंदुस्तान में कभी भी बराबरी नहीं आ सकती। अंबेडकर ने बड़े पुख्ता तरीके से इस बात को बौद्धिक और राजनैतिक स्तर पर भी पेश किया, गांधीजी के सामने। मेरा मानना यह है कि जो पूना पेक्ट कहलाता है, जिसमें गांधी और अंबेडकर के बीच में एक अलग ढंग की बहस हुई कि चुनाव प्रणाली में क्या–क्या परिवर्तन होने चाहिए, के बारे में उनके बीच में एक समझ बनी, एक तरह का समझौता हुआ। मुझे लगता है कि उसके बाद गांधीजी के दृष्टिकोण में बहुत तेजी से परिवर्तन आया। गांधीजी की खासियत थी कि वे लगातार सीखते थे। जो उनके विरोधी होते थे, उनसे शायद ज्यादा तेजी से सीख लेते थे और जो उनके पक्ष के होते थे, उनसे धीमे–धीमे सीखते थे। सीखते सभी से थे। बच्चे से भी सीखते थे, बड़ों से भी सीखते थे, हर एक से सीखते थे। इस बात को गांधीजी ने बहुत ही खूबसूरत ढंग से लिखा है, जब 1931 में उन्होंने हिन्द स्वराज की नई

प्रस्तावना लिखी थी, उन्होंने लिखा कि जब लोग मुझे पढ़ते हैं, तो कहते हैं कि पहले तो आपने कुछ और कहा था, अब आप कुछ और कह रहे हैं। उन्होंने कहा, हां मैं लगातार नई बात कहता हूं, नई बात सीखता जाता हूं और उन सब विद्वानजनों से मेरा अनुरोध है कि जब वे मुझे पढ़ें, तो मेरी लिखी हुई चीज की तारीख भी नोट कर लें और साथ में तारीख को देख कर मेरी व्याख्या करें, नहीं तो उलझ जाएंगे मेरी बातों में। क्योंकि पहले मैंने कुछ और कहा था। अंबेडकर से उन्होंने बहुत कुछ सीखा। वर्धा में अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन में, उन्होंने जो भाषण दिया, उसमें तो मुझे बिल्कुल अंबेडकर का प्रभाव (1933–34 का विवाद) दिखता है। मुझे लगता है कि दोनों ने एक बात कही थी कि समाज में शिक्षा की भूमिका क्या होनी चाहिए। अंबेडकर ने एक नारा दिया– ''शिक्षित बनो, संगठित हो और संघर्ष करो।'' तो उन्होंने केवल दलितों के संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए नारा नहीं दिया बल्कि यह नारा पूरे भारत के लिए है। क्योंकि ये मानना बहुत गलत होगा कि अंबेडकर केवल दलितों के मसीहा थे, जिस रूप में उनको प्रस्तुत किया गया है। जब संविधान सभा में यह तय हुआ कि अंबेडकर संविधान बनाने की ड्राफ्टिंग कमेटी के चेयरमैन बनेंगे, तब उन्होंने उस संदर्भ में चार बड़े भाषण दिए थे, वे पढ़ने योग्य हैं। उन भाषणों को अगर आप पढ़ें, तो आप भौंचक्के रह जाएंगे। वे केवल दलितों की तो बात ही नहीं कर रहे हैं, वे तो पूरे हिंदुस्तान की बात कर रहे हैं। नया हिंदुस्तान, जो आजादी के बाद बनने वाला है। नया संविधान जो बनने वाला है, उसका वैचारिक, राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक खाका क्या होगा, उसकी राजनीति क्या होगी, वे उसकी बात कर रहे हैं। उन्होंने जब यह नारा दिया, ''शिक्षित बनो, संगठित हो और संघर्ष करो'', तो वे क्या कह रहे हैं। अगर हम आपस में जाति के भेदभाव की बात करते हैं, तो दलितों के आपस में कम भेदभाव नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि सारे दलित एक ही जाति के हैं। दलितों के बीच में भी भेदभाव है। उनके अंदर भी खान–पान की, विवाह आदि की बंदिशें होती हैं, अलगाव हैं। अंबेडकर यह तो नहीं कह रहे थे कि ऐसी शिक्षा दें, जो हमें और छोटी–छोटी जातियों में बांट दे और एक दूसरे के खिलाफ खड़ा कर दे और न ही हमें कह रहे हैं कि आप ऐसी शिक्षा पाइए, जो आपको एक दूसरे के खिलाफ कर दे। एक मजहब को दूसरे मजहब के खिलाफ, एक भाषा बोलने वाले को दूसरी भाषा के खिलाफ, एक अंचल के लोगों को दूसरे अंचल के खिलाफ, जो आज हिंदुस्तान में हो रहा है। वे एक ऐसी शिक्षा की बात कर रहे हैं, जो हमारे बीच में अंतर्निहित एकता है, उसको पुख्ता करे। आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था में जो हमारा बड़ा दुश्मन है, उसके खिलाफ संघर्ष करने के लिए हमें तैयार करे। यानि कि ठीक वही बात, जो गांधी कर रहे थे, ठीक वही बात जो महात्मा ज्योतिबा फूले कर रहे थे। तीनों की बातों में यह एक समान सूत्र मैं ढूंढ़ रहा हूं, जो मुझे दिखता है। शिक्षा ऐसी हो, जो समाज और राजनीति में बदलाव के लिए हमें तैयार करे, न कि उसकी यथास्थिति को बरकरार रखने के लिए।

शिक्षाशास्त्र में दो शब्द हैं, और मैं जानबूझ कर इस सैद्धांतिक शब्दावली का उपयोग कर रहा हूं। क्योंकि सैद्धांतिक शब्दावली पर अगर आप विचार करेंगे, तो बहुत कुछ खुद निकाल लेंगे। एक शब्द है, 'सामाजिक पुनरुत्पादन' अंग्रेजी में 'सोश्यल रिप्रोडक्शन' और दूसरा, शब्द है ठीक इसके खिलाफ 'परिर्वतनकारी शिक्षा', 'ट्रांसफारमेटिव एज्युकेशन'। सामाजिक पुनरुत्पादन का वही मतलब है, जो आज की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था, उसका सामाजिक तानाबाना, जो भेदभाव पर टिका हुआ है, गैर बराबरी पर टिका हुआ है, लालच पर टिका हुआ है, मोह पर टिका हुआ है, अनैतिक मूल्यों पर टिका हुआ है, उस तमाम सामाजिक, राजनीतिक तानेबाने को बरकरार रखने वाली जो शिक्षा होगी, वह सामाजिक

पुनरुत्पादन की होगी। जो इसी समाज का पुनरुत्पादन कर रही है। इसको बदलने वाली वह शिक्षा होगी, जो हमें सवाल पूछना सिखाएगी, हमारे अंदर जिज्ञासा पैदा करेगी, हमें शोध करना सिखाएगी, हमें समीक्षा करना और प्रयोग करना सिखाएगी, नए रास्ते खोजने और उन पर चलने के लिए हिम्मत भी पैदा करेगी, जो हमारे ज्ञान के क्षेत्र में भी हमें नए रास्ते दिखाएगी और हमारी भावनाओं के क्षेत्र में भी हिम्मत पैदा करके, उन नए रास्तों पर चलने की हिम्मत पैदा करेगी और लगातार सृजन करने की क्षमता पैदा करेगी। ऐसी परिवर्तनकारी शिक्षा की वकालत महात्मा फूले ने की, गांधीजी ने की और अंबेडकर ने की। अगर मैं संविधान की बात नहीं करूं, तो अंबेडकर की बात अधूरी रह जाएगी। ऐसा नहीं है कि संविधान में जो कुछ भी लिखा है, वह बाबा साहेब अंबेडकर की ही बात थी। संविधान में कई मोर्चे बाबा साहेब अंबेडकर ने हारे हैं। अगर आप संविधान सभा की बहस को पढ़ें और उसके इतिहास को देखें, तो वे कई मोर्चे हारे हैं। लेकिन कई मोर्चे जीते भी हैं। कोई अकेले बैठ कर तो उन्होंने संविधान बनाया नहीं। एक बड़ी संविधान सभा थी और वह समाज, जो कभी एक औपचारिक रूप में 'राष्ट्र' नहीं बना था, उसमें हजारों रियासतें थीं, जो आप सब जानते हैं। पूरा देश रियासतों में बंटा हुआ था और ब्रिटिश इंडिया खुद उन रियासतों के बीच में छोटे–छोटे टापुओं के रूप में था। अनेक भाषाओं के बोलने वाले लोग जो कभी आपस में मिले–जुले नहीं थे। खास कर पूर्वांचल के लोग, नागालैंड, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय के बहुत सारे अंचल के लोग। खासी और गारो जाति के लोग तो जानते भी नहीं थे कि आजादी की लड़ाई कैसी है, बाकी हिंदुस्तान में क्या हो रहा है। शायद गांधीजी भी बहुत जगहों पर नहीं पहुंच पाए थे। हालांकि बहुत जगहों पर वे गए थे। ये हिस्सा भी शायद उनसे छूट गया। नागालैंड के लोग तो आज भी कहते हैं कि हम भी आजादी की लड़ाई लड़ रहे थे, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ। वे अलग लड़ रहे थे, हमारे साथ मिल कर नहीं। मेघालय के खासी और गारो के इतिहास में लिखा हुआ है कि उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ कैसी लड़ाई लड़ी। क्या आपने कभी पढ़ा है कि मेघालय, जो हमारे देश का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रदेश है, वहां के खासी और गारो लोगों ने और नागालैंड के सेमा लोगों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ स्वतंत्र रूप से अपनी लड़ाइयां लड़ीं। कभी इसका इतिहास आपने सीखा है, मैंने तो नहीं सीखा। आपकी पुस्तकों में यदि आज आ गया हो, तो जरूर बता दीजिए, मेरी पुस्तकों में तो कभी भी नहीं था। तो एक बिल्कुल अलग इलाका था, जो हमसे जुड़ने की कोशिश में था, भारत की इस मुख्य धारा में। जो भी मुख्य धारा हो, मुझे नहीं मालूम कि मुख्य धारा क्या थी। जिसको लोग आज मुख्य धारा बोलते हैं, उस समय भी बोलते थे कि ये भारत है, उसमें जोड़ने की कोशिश थी। उधर हिंदू और मुसलमानों के बीच में द्वन्द्व बढ़ रहा था, वह भी बहस चल रही थी। अलग–अलग भाषाओं की लड़ाई थी। जैसे ही हमारी संविधान सभा में यह आग्रह, जिसको में दुराग्रह मानता हूं, मुझे माफ करेंगे कि हिंदी ही भारत की राष्ट्र भाषा होनी चाहिए। मैं दुराग्रह बड़ी हिम्मत से बोल रहा हूं, इस बात से। तो तमाम दक्षिण भारत के लोग खड़े हो गए कि तो फिर आप अपना हिंदुस्तान बना लीजिए हमें छोड़ दीजिए क्योंकि हमारी तो भाषा हिंदी नहीं है। क्या आप तमिल को मानेंगे, तेलुगू को मानेंगे, कन्नड़ और मलयालम को भारत की भाषा बनाएंगे। वे भी तो भारत की भाषाएं हैं। ये तमाम विवाद जब खड़े हो रहे थे, उस समय बाबा साहेब अंबेडकर ने यह बात कही कि हम ये याद कर लें कि आज हम इस संविधान सभा में नए भारत का निर्माण करने के लिए बैठे हैं। जो भारत पहले नहीं था, उसका संविधान बना रहे हैं। इस भारत में अलग–अलग तबके हैं, उनके बीच में अलग–अलग प्रकार की लड़ाइयां हैं। यह कहते

हुए एक बहुत ही खूबसूरत बात उन्होंने कही कि कल हमें इकठ्ठे एक मुल्क का हिस्सा बनना है। एक मुल्क का नागरिक बनना है। उस मुल्क का संविधान कैसा होगा, उसको बनाने के लिए हम बैठे हैं। अपने–अपने तबकों का हिंदुस्तान बनाने के लिए नहीं बैठे हैं। एक नया हिंदुस्तान गढ़ने बैठे हैं। इसलिए हमें आपस में बातचीत करना सीखना होगा। एक–दूसरे के डर से, आशंकाओं से और उनके सवालों से जूझना पड़ेगा। उनके दिल में अगर कोई डर बैठ गया है, एक–दूसरे मतों के लोगों को लेकर, तो उससे भी हमें जूझना होगा। तभी वे हमारे साथ रहेंगे। उस संविधान को बनाने वाले बाबा साहेब अंबेडकर की एक दृष्टि थी, जो संविधान में दिखती है। अंबेडकर ने अनुच्छेद 45 लिखा। जब संविधान का यह अनुच्छेद प्रारूप समिति के द्वारा लिखा जा रहा था तो उसी समय मौलिक अधिकार क्या हों, यह तय करने के लिए मौलिक अधिकार की एक अलग कमेटी बनी थी। इस कमेटी के सामने प्रारूप समिति का एक प्रस्ताव गया कि शिक्षा के इस अनुच्छेद 45 को मौलिक अधिकार माना जाए। मौलिक अधिकार कमेटी ने अंबेडकर की कमेटी के इस प्रस्ताव को मानने से इंकार कर दिया। इस कमेटी में देश के बहुत बड़े–बड़े राजनेता जो आजादी की लड़ाई के महान नेता थे, मौजूद थे, जिन्होंने इंकार किया। उन्होंने वही कहा, जो कि मैकॉले ने कहा था। उन्होंने कहा कि हम हर ऐरी–गैरी चीज को थोड़े ही मौलिक अधिकार बना लेंगे। यही शब्द थे कि हर ऐरी–गैरी चीज को हम थोड़े ही मौलिक अधिकार बना लेंगे। आखिरकार, हिंदुस्तान एक गरीब मुल्क है, सबको शिक्षित करने के लिए हमारे पास संसाधन कहां हैं। क्या लिखा था अनुच्छेद 45 में, जिसको कि नकारा गया और जिससे डर गए मौलिक अधिकार कमेटी के लोग। उसमें यह लिखा था कि इस संविधान के बनने के दस साल के भीतर यानी कि 1950 से लेकर 1960 तक भारत के चौदह वर्ष तक की उम्र के सभी बच्चों को (एक–एक शब्द इसमें महत्त्वपूर्ण है, यह नहीं लिखा था कि छः से चौदह वर्ष की आयु के बच्चों को) मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा दे दी जाएगी। इससे घबरा गई हमारी मौलिक अधिकार कमेटी। अब तो ब्रिटिश लोगों की बात नहीं हो रही है, अब तो अपने लोगों की बात हो रही है, जिनकी चमड़ी का रंग वही है, जो हमारा है।

अनुच्छेद 46 भी शिक्षा के बारे में बात करता है। सब बच्चों को चौदह साल की उम्र तक की शिक्षा की। यानी कि आमतौर पर पांच से छः साल तक उम्र के बच्चे पहली कक्षा में पहुंचते हैं और अगले आठ साल तक स्कूल में रहेंगे, तो आठ साल की शिक्षा पूरी कर लेंगे, जिसको आज की भाषा में प्रारंभिक शिक्षा कहा जाता है। छः साल से नीचे वाले, कम से कम तीन साल से छः साल उम्र के बच्चे, पूर्व प्राथमिक शिक्षा, जिसका कि गुजरात तो एक सबसे बड़ा प्रेरणादायक मॉडल है, पूरे हिंदुस्तान के लिए। जहां बालवाड़ी का एक बड़ा आंदोलन चला है। सौराष्ट्र गुजरात के गिजुभाई ने तो पूरी दुनिया को बताया कि छोटे बच्चों के साथ कैसे काम किया जाए और पढ़ाई–लिखाई का स्वरूप क्या हो। उस गिजुभाई के प्रदेश में कह सकते हैं कि गांधीजी ने यह बात रखी, अंबेडकर ने उसको संविधान में अनुच्छेद 45 में डलवाया, कि तीन से छः साल की उम्र के बच्चों को भी शिक्षा के अधिकार में शामिल किया जाए। साथ ही तीन साल से नीचे की उम्र के बच्चों के लिए उन्होंने कहा, (अनुच्छेद 39 को पढ़िए,) कि इन सब बच्चों को एक ऐसा माहौल दिया जाए, ऐसा पोषण उपलब्ध हो, आहार उपलब्ध हो ताकि वे स्वस्थ जीवन जी सकें और एक सम्मान–जनक नागरिक बनने के लिए तैयार हो सकें। क्या इतना ही लिखा है उसमें, नहीं और बहुत कुछ लिखा है। अगर पूरी बात समझनी है, तो संविधान को और पलटिए। उसी अनुच्छेद 39 में वे वाक्य

हैं, जिनको पढ़ने से हमारा सुप्रीम कोर्ट भी घबराता है। सुप्रीम कोर्ट के जज भी घबराते हैं। इसका जिक्र कभी भी उनके निर्णयों में नहीं आता है। अनुच्छेद 39 का उप–अनुच्छेद 'बी' और 'सी' यह कहता है कि भारत के तमाम भौतिक संसाधनों की मिल्कियत और नियंत्रण इस प्रकार से स्थापित किया जाए कि इससे अधिकतम लोगों का सार्वजनिक रूप से भला हो। तमाम संसाधनो में जमीन ही नहीं, जंगल, पानी, नदियां और ज्ञान व शिक्षा आते हैं, ये भी तो संसाधन हैं। इसका अगला उप–अनुच्छेद 'सी' कहता है कि भारत की अर्थव्यवस्था का संचालन इस प्रकार से किया जाए कि उसकी संपत्ति और उत्पादन के साधनों का फायदा देश भर के आम लोगों को मिल पाए। मुझे पूरा विश्वास है कि इन दोनों उप–अनुच्छेदों का लेखन बाबा साहेब अंबेडकर की लेखनी से हुआ है।

संविधान का अनुच्छेद 14 कहता है कि हिंदुस्तान का हर एक नागरिक, कानून के सामने बराबर होगा। अनुच्छेद 15 का उप–अनुच्छेद 'एक' कहता है कि भारतीय राज्य किसी भी नागरिक के साथ भेदभाव नहीं करेगा। चाहे वह किसी भी भाषा, मजहब, लिंग या अंचल का हो। गैर–बराबरी और भेदभाव को मिटाना भारतीय संविधान की नींव है। जिसके लिए आज हम पूरी तरह बाबा साहेब अंबेडकर के प्रति शुक्रगुज़ार हैं, गांधीजी उतनी ही तेजी के साथ बराबरी की बात करते हैं, जितनी तेजी के साथ अंबेडकर करते हैं। दोनों में कोई फर्क मुझे नजर नहीं आता। फर्क इतना ही है कि गांधीजी को लगता है कि वर्तमान सामाजिक तानेबाने में ही गैर–बराबरी खत्म करके बराबरी लाई जा सकती है और बाबा साहेब अंबेडकर बार–बार कहते हैं कि ये संभव नहीं है। अंबेडकर कहते हैं कि ''आज 26 जनवरी 1950 को हम एक अंतर्विरोधों से भरी जिंदगी में प्रवेश कर रहे हैं।'' राजनीति में तो हम बराबरी दे रहे हैं, लेकिन सामाजिक और आर्थिक जीवन में गैर–बराबरी बरकरार रख रहे हैं। राजनीति में हम ये सिद्धांत मानेंगे कि हर इंसान को एक वोट का अधिकार होगा और हर वोट की वही कीमत होगी, जो दूसरे वोट की होगी। पर अपनी सामाजिक और राजनीतिक जिंदगी में हम अपने सामाजिक और आर्थिक ढांचे और उसकी संरचना के कारण, लगातार हर इंसान के वोट की बराबरी की कीमत देने से पीछे हटते रहेंगे, उसको नकारते रहेंगे। हम कितनी देर तक इस बराबरी को सामाजिक–आर्थिक जीवन से नकारेंगे। अगर हमने बहुत देर तक इसको नकारा, तो हम जिस राजनीतिक लोकतंत्र को बना रहे हैं, वो बड़े खतरे में पड़ जाएगा। आज वह खतरे में पड़ चुका है। चाहे आप टू–जी स्पेक्ट्रम की, चाहे आप राष्ट्रमंडल खेलों में हुए घोटाले की बात करें, चाहे आदर्श कॉपरेटिव सोसायटी के घोटाले की बात करें या फिर तमाम तरह के घोटाले जो होते रहते हैं, वे सब जुड़े हैं, इस बात से कि हमने भारतीय संविधान में बाबा साहेब अंबेडकर का बराबरी का जो सिद्धांत था, आर्थिक व्यवस्था को बदलने का जो सिद्धांत था, हमारे संसाधनो पर समाज के नियंत्रण का जो सिद्धांत था, और जो कि गांधीजी का भी सिद्धांत था, इसको हमने पूरी तौर पर नकारा है। ये उस विमर्श की पृष्ठभूमि है, जिसमें हम शिक्षा की बात कर रहे हैं।

विनोबा का लगभग 1967–68 का एक बयान है। वे कहते हैं कि मुझे वर्धा में 15 अगस्त 1947 को बुलाया गया, तो मैंने कहा कि देखो भाई स्वराज तो मिल गया, तो क्या पुराना झंडा एक दिन के लिए भी चलेगा? तब सब लोग मिल कर बोले कि नहीं चलेगा। विनोबा कहते हैं कि यदि पुराना झंडा चला, तो इसका अर्थ होगा कि पुराना राज्य जारी है। जैसे नए राज्य में नया झंडा होता है, वैसे ही नए राज्य में नई तालीम चाहिए। यदि पुरानी तालीम ही जारी रही, तो समझ लेना कि पुराना राज्य ही जारी है, नया राज्य आया

ही नहीं। विनोबा ने कहा कि गांधीजी ने दूर–दृष्टि से नई तालीम नाम की एक पद्धति सुझाई है। अगर मेरे हाथ में राज्य होता, तो मैं सारे विद्यार्थियों की आज छुट्टी कर देता और कहता कि तीन महीने की आपको छुट्टी है, खेल–कूद कीजिए, मजे कीजिए, जरा मजबूत बनिए। थोड़ी खेती–बाड़ी कर लीजिए। स्वराज्य मिला है, उसका आनंद भी ले लीजिए। तब तक शिक्षाशास्त्रियों का सम्मेलन होगा और वे हिंदुस्तान की नई तालीम का एक ढांचा तैयार करेंगे। तब तक छुट्टी। परन्तु उसके बदले में, हमने चार–चार पंचवर्षीय योजनाएं बना ली हैं, लेकिन तालीम का पुराना ढांचा अभी भी लागू है।

आप देख चुके हैं, राज्य के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक चरित्र का क्या रिश्ता होता है शिक्षा के साथ। मैकॉले से लेकर आज तक, सामाजिक पुनरुत्पादन की बात भी जान चुके हैं। कैसे परिवर्तनकारी शिक्षा नकारी जाती है, दबाई जाती है। ये हुआ है और हो रहा है।

अनिल सद्गोपाल : किशोर भारती संस्था के संस्थापक, दिल्ली विश्वविद्यालय शिक्षा संकाय के पूर्व डीन, शैक्षिक चिंतन में अग्रणी भूमिका। वर्तमान में अखिल भारतीय शिक्षा अधिकार मंच के अध्यक्षीय मण्डल के सदस्य हैं।

विशेष : 28 फरवरी से 6 मार्च, 2011 तक गूजरात विद्यापीठ के द्वारा आयोजित व्याख्यानमाला की रिकॉर्डिंग से यह आलेख तैयार किया गया है। हम गूजरात विद्यापीठ के आभारी हैं कि इसे पत्रिका में प्रकाशित करने की हमें, अनुमति प्रदान की। व्याख्यान में प्रस्तुत विचार व्याख्यानकार के हैं, उन्हें गूजरात विद्यापीठ संस्था के विचार न समझा जाए।

बच्चों की "फिरकी" के बहाने : बाल साहित्यकारों का जमावड़ा

कालू राम शर्मा

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (एनसीईआरटी) का प्रारंभिक शिक्षा विभाग, प्रारंभिक साक्षरता कार्यक्रम के तहत बच्चों के लिए "फिरकी" पत्रिका का प्रकाशन करता है। फिरकी के संदर्भ में 5 से 7 फरवरी 2013 के दरम्यिान तीन दिवसीय कार्यशाला का आयोजन अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन एवं सर्व शिक्षा अभियान के संयुक्त तत्वावधान में देहरादून में संपन्न हुआ। फाउंडेशन के द्वारा बच्चों के लेखन में संलग्न स्रोत सदस्यों का चयन करने के साथ ही आयोजन की समस्त जिम्मेदारियां भी उठाई गईं।

इस तीन दिवसीय कार्यशाला का मकसद उत्तराखंड राज्य के संदर्भ में बाल–साहित्य का सृजन करना तथा जो लोककथाएं, कविताएं, गीत, लोकोक्तियां आदि उपलब्ध हैं, उनका संकलन करना रहा। कई मायनों में यह कार्यशाला इस कार्य को करने में सफल रही। साथ ही एक तरह से इसे अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, एक तीन दिन के कार्यक्रम के रूप में न देखते हुए भविष्य में दूर मुकाम तक लेजाने के संदर्भ में देखने की कोशिश करता है।

कार्यशाला के प्रथम दिन की शुरुआत में समस्त साथियों का गर्मजोशी से स्वागत किया गया। इसके साथ ही अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन के अनंत गंगोला ने अपील की कि हम ऐसा क्या करें कि खासकर पढ़ना प्रारंभ कर रहे बच्चों के लिए बेहतर सामग्री का सृजन करते रहें। उन्होंने आगे कहा कि मानव सभ्यता के इतिहास में हम बच्चों को बहुत कम जान पाए हैं। वे आगे कहते हैं कि जब नन्हीं बच्ची को टॉलस्टाय की कहानी सुनाई जा रही थी, तो वह उसके आगे की कहानी को खुद गढ़ती है। इसके क्या मायने हैं? उस नन्हीं बच्ची की मां सोचती है कि बच्ची बड़ी होशियार है। यह उस मां का दुलार है, जो अपनी बच्ची को एक सशक्त व विचारशील इंसान के रूप में देखती है और खुश हो लेती है। मगर असल बात तो यह है कि टॉलस्टाय कितने गजब के बाल–कहानीकार भी हुए, जिन्होंने बच्चे के मनोविज्ञान को समझा, जो हर बच्चे पर लागू होता है। तो कहा यह जा रहा है कि एक बाल–साहित्यकार बच्चों के लिए जब लिखता है, तो वह बच्चों के विचारों और उनकी क्षमताओं को भी बखूबी समझ रहा होता है। असल चुनौती एक बाल–साहित्यकार के सामने यह होती है कि वह बच्चों की भावनाओं और विचारों को समझते हुए रचनाओं को रचे। इस लिहाज से बच्चों के लिए इस प्रकार के सृजन का महत्व आज के दौर में और भी अहम हो जाता है।

सर्व शिक्षा अभियान के सदस्य के. एन. बिजल्वाण ने बताया कि अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन के साथ सर्व शिक्षा अभियान का गहरा संबंध रहा है। हम चाहते हैं कि सर्व शिक्षा अभियान की ओर से प्रकाशित 'बाल प्रवाह' को बच्चों का ऐसा मंच बनाया जाए जो उनके पढ़ने–लिखने की प्रतिभाओं को निखार सके।

इसके पश्चात एनसीईआरटी की सदस्य उषा शर्मा

की ओर से पत्रिका के प्रकाशन का संदर्भ रखा गया। खासकर पढ़ना प्रारंभ कर रहे विद्यालयी बच्चों को पर्याप्त अवसर और वातावरण नहीं मिल पाता कि वे पढ़ने–लिखने की अर्थपूर्ण प्रक्रिया से जुड़ सकें। इतना ही नहीं, बाल साहित्य और बच्चों के पढ़ने के अन्य संसाधनों का भी अभाव है। बच्चों में पढ़ने की ललक कुदरती होती है। चारों ओर बिखरा भाषाई संसार उनमें पढ़ने की उत्सुकता जगाता है। रंग–बिरंगी किताबें उन्हें अपनी ओर आकर्षित करती हैं। किताब देखते ही नन्हे हाथ आतुर होकर उसे उठाते हैं, उलटते–पलटते हैं और अनुमान लगाकर पढ़ने की कोशिश भी करते हैं। लेकिन ऐसा क्या होता है कि पढ़ने की उत्कृष्ट लालसा लिए स्कूल में दाखिल हुए बच्चे का यह उत्साह शुरुआती चंद महीनों में ही दम तोड़ देता है। इसके कई कारण हैं– पढ़ना सिखाने की नीरस पद्धति, बच्चों को अनुमान लगाकर पढ़ने के अवसर न मिल पाना, पाठ्यपुस्तकों का बच्चों को नीरस और उबाऊ लगना, बच्चों की मनपसंद किताबों, पत्रिकाओं का अभाव आदि।

इस बात को दृष्टिगत रखते हुए एनसीईआरटी द्वारा प्रारंभिक साक्षरता कार्यक्रम के अंतर्गत प्रारंभिक पाठकों के लिए बाल पत्रिका निकालने का निर्णय लिया गया। एनसीईआरटी इस संदर्भ में क्षेत्रीय कार्यशालाओं का आयोजन भी करती आई है ताकि बच्चों के लिए अलग–अलग राज्यों की संस्कृति व क्षेत्रीयता के संदर्भ में सामग्री का सृजन किया जाए। इस पर यह कार्यशाला देहरादून में आयाजित की गई।

कार्यशाला के अगले चरण में उत्तराखंड राज्य के बाल–साहित्यकार साथियों ने रचनाओं का सृजन किया और उन पर चर्चा की। दीक्षा जोशी ने उत्तराखंड राज्य के कुमाऊं क्षेत्र की अनेक रचनाओं को साझा किया। नवीन डिमरी, मनोहर चमोली, रीना पाल, सुनीता, सुभाष रावत एवं मुकेश नौटियाल ने भी इस कार्य में गहरी दिलचस्पी लेते हुए रचनाओं का सृजन कर उन्हें प्रस्तुत किया।

दीक्षा जोशी ने उत्तराखंड की लोक संस्कृति में रची–बसी कहानियों और कविताओं को प्रस्तुत किया। उन्होंने बच्चों के अनेक पशु–पक्षियों की विभिन्न मुद्राओं के बनाए गए चित्रों को प्रस्तुत किया। इन चित्रों को उन्होंने पुराने केलेंडर पर बनाए थे। दीक्षा जोशी का यह कार्य दर्शाता है कि "जहां चाह, वहां राह है"।

नवीन डिमरी द्वारा रचित टॉफी का पेड़ व भिंडी

की शादी नामक कविताएं पढ़ी गई।
भिंडी की शादी का आप भी लुत्फ उठाएं–

मूली, शलजम, गाजर, टिंडा
आए हैं सब आज भटिंडा
शादी है भिंडी की आज
नाच रहे हैं आलू प्याज
खुश हैं लौकी, गोभी भी

और बहिन बंद गोभी भी
पहुंची आंगन में बारात
...कद्दू, बैंगन, तुरई साथ
पटवा, परवल भी हैं साथी
अरबी घुइंया सब बाराती,
कटहल दूल्हे राजा हैं
बीन बजाती बाजा हैं।

मनोहर चमोली ने एक कहानी को पढ़ा और उस पर बातचीत की। इस कहानी का एक अंश यहां प्रस्तुत है–

''एक चींटी थी... उसने कहा कि मेरा अंडा सबसे बड़ा... तभी मेंढक ने टर्र...टर्र... करते हुए कहा मेरा अंडा सबसे बड़ा... वहां आ गई एक चिड़िया और बोली– मेरा अंडा सबसे बड़ा... तभी वहां आ गया एक काला कौआ... उसने कहा– मेरा अंडा सबसे बड़ा....कहानी इसी प्रकार से आगे बढ़ती है। आखिर में एक चूहा अपने सिर पर एक घड़ा लेकर आता है और कहता है– मेरा अंडा सबसे बड़ा...। और सब चुप हो जाते हैं।''

सुभाष रावत ने दो दिलचस्प कविताएं प्रस्तुत की, उसमें से एक बंगाणी भाषा में है जो उत्तराखंड के उत्तरकाशी क्षेत्र में बोली जाती है, इस प्रकार है–

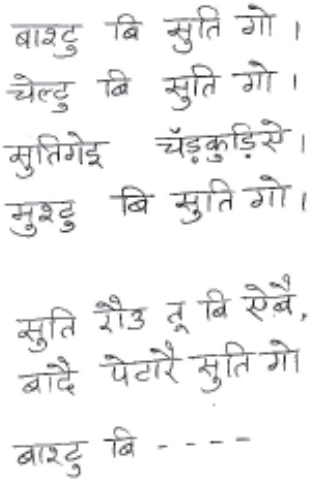

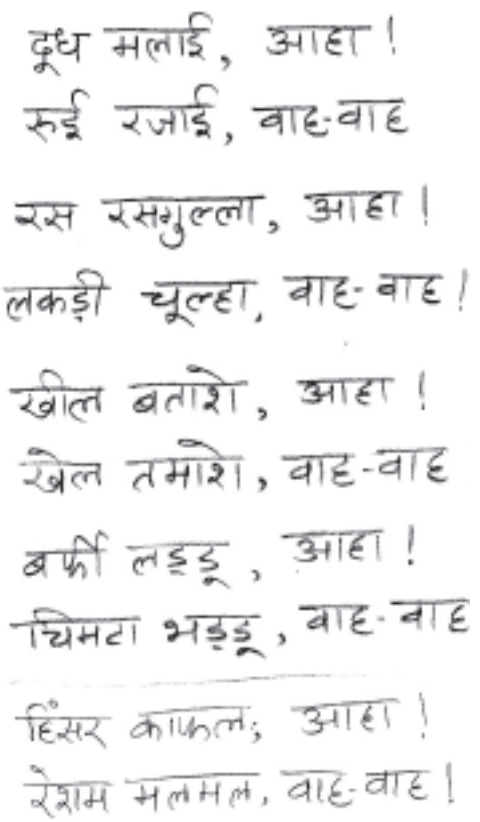

एनसीईआरटी की उषा शर्मा ने बच्चों के लिए उनके द्वारा लिखी कविताएं प्रस्तुत की। एक कविता यहां प्रस्तुत है:–

निकले तारे चांद बगैर,
पूछ रहे थे सबकी खैर
एक तारे का फिसला पैर
हुई मुफ्त में उनकी सैर।

कुल मिलाकर इस कार्यशाला में ऐसी कईं रचनाओं का सृजन कर उन पर विमर्श किया गया। इस पर उत्तराखंड पर केंद्रित "फिरकी" का अगला अंक प्रकाशित किया जाएगा।

कालू राम शर्मा : लंबे समय तक एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से जुड़े रहे एवं विद्या भवन में बुनियादी शिक्षा परियोजना में संलग्न रहे हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, देहरादून में कार्यरत।

छायाचित्र सौजन्य : देहरादून में अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन द्वारा आयोजित बाल-चौपाल से

काठ की घंटी

आओ आओ सीता सलमा
आओ आओ जॉर्ज बंटी
देखो–देखो एक
काठ की घंटी
काठ की घंटी?
हां!हां! काठ की घंटी!
करते हैं बातें अधिगम की
और हमारे अंतर्मन की
पर करते हैं क्या?
है सिर्फ दिखाई देते इन्हें
कान हमारे...
किन्हें बताएं हम अपने अनुभव सारे?
चाहें हम खेलना–कूदना
थोड़ा इठलाना और मचलना
पर फिक्र है इन्हें सिर्फ सिलेबस की
ऐसी पढ़ाई नहीं, अब हमारे बस की।
कितना कुछ हमें है कहना
फिर क्यों कहते ये, बस!
अब तो चुप ही रहना।
कहां है पियाजे और डीवी
जो कहते थे अनुभवों से सीखो
सिर्फ पैवलव और स्किनर
पर क्यों है इनका जोर?
हमारी बातों को कहते हैं ये
कक्षा का शोर!
खत्म करो अब इस चुप्पी को
आओ बजा दे इस
काठ की घंटी को।

– चंदन झा

जामिया मिलिया इस्लामिया से प्रारंभिक शिक्षा में एम.एड. किया है और स्वतंत्र लेखन कार्य में सक्रिय। अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन में कार्यरत हैं।

विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर की ओर से प्रकाशक व मुद्रक : रियाज़ ए. तहसीन, पता : विद्या भवन सोसायटी, डा. मोहन सिंह मेहता मार्ग, फतेहपुरा, उदयपुर, राजस्थान से प्रकाशित एवं संजय प्रिन्टर्स, 71, महिला मंडल स्कूल के पास, मुखर्जी चौक, उदयपुर, (राज.) से मुद्रित, सम्पादक : भाग चन्द्र कुमावत।